

# अपभ्रंश भारती

जनवरी-जुलाई, 1993

शोध-पत्रिका

3-4



अपभ्रंश साहित्य अकादमी  
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी  
राजस्थान

# अपभ्रंश भारती

अर्द्धवार्षिक

शोध-पत्रिका

जनवरी-जुलाई, 1993

सम्पादक मण्डल  
श्री नवीनकुमार बज  
डॉ. कैलाशचन्द जैन  
श्री ज्ञानचन्द बिल्टीवाला  
श्री रतनलाल छाबड़ा  
श्री महेन्द्रकुमार पाटनी

प्रबन्ध सम्पादक  
श्री कपूरचन्द पाटनी  
मंत्री, प्रबन्धकारिणी कमेटी  
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी

सम्पादक  
डॉ. कमलचन्द सोगाणी  
श्री ज्ञानचन्द्र खिन्दूका  
डॉ. गोपीचन्द पाटनी

सहायक सम्पादक  
सुश्री प्रीति जैन

प्रकाशक

अपभ्रंश साहित्य अकादमी

जैनविद्या संस्थान

प्रबन्धकारिणी कमेटी

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र, श्रीमहावीरजी (राजस्थान)

**वार्षिक मूल्य :**

40.00 रु. सामान्यतः

75.00 रु. पुस्तकालय हेतु

**फोटोटाइप सैटिंग :**

कॉम्प्रिन्ट, जयपुर

**मुद्रक :**

जयपुर प्रिन्टर्स प्रा. लि.

एम. आई. रोड, जयपुर-1

## विषय-सूची

क्र.सं.	विषय	लेखक	पृ.सं.
	प्रकाशकीय		
	सम्पादकीय		
1.	जसहरचरिउ की काव्यभाषा	डॉ. रामकिशोर शर्मा	1
2.	अपभ्रंश के समरसी मर्मी कवि मुनि जोइन्दु : प्रासंगिकता की कसौटी पर	डॉ. शंभूनाथ पाण्डेय	7
3.	हंसावलि-पक्ख-समुल्हसन्ति	महाकवि स्वयंभू	16
4.	आदिकालीन हिन्दी : भाषिक संवेदना का नव धरातल और अब्दुल रहमान	डॉ. राजमणि शर्मा	17
5.	अपभ्रंश काव्य में रहस्यवाद	डॉ. देवकीनन्दन श्रीवास्तव	29
6.	जा सेउण-देसहोँ अमिय-धार	महाकवि स्वयंभू	36
7.	सिद्धों के अपभ्रंश साहित्य का विवेचनात्मक अध्ययन	डॉ. आदित्य प्रचण्डिया 'दीति'	37
8.	महाकवि स्वयंभू का नागर-बिम्ब सौन्दर्य	डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव	45
9.	उज्जर-मुरवाइँ व वायन्ती	महाकवि स्वयंभू	52
10.	जोइंदु की भाषा	डॉ. देवकुमार जैन डॉ. चित्तरंजनकर	53
11.	हिन्दी साहित्य पर अपभ्रंश का प्रभाव	जोहरा अफ़जल	59
12.	कल्लोलुल्लोलहिं उव्वहन्ति	महाकवि स्वयंभू	64
13.	मुनि रामसिंह कृत 'दोहापाहुड' का भाषा-वैज्ञानिक विश्लेषण	श्रीमती आभारानी जैन	65
14.	अपभ्रंश कथा सौरभ	डॉ. कमलचन्द सोगाणी	71



## प्रकाशकीय

अपभ्रंश भारती का तृतीय-चतुर्थ अंक पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें हर्ष का अनुभव हो रहा है।

यह कहना युक्तियुक्त है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास की आदिकालीन व मध्ययुगीन प्रवृत्तियों का प्रधान प्रेरणा-स्रोत अपभ्रंश साहित्य रहा है। काव्य-रूपों और काव्य-विषयों के अध्ययन के लिए राष्ट्रभाषा हिन्दी व आर्य भाषाओं के विकास-क्रम के ज्ञान के लिए अपभ्रंश साहित्य की उपयोगिता असंदिग्ध है।

अपभ्रंश साहित्य के सांस्कृतिक महत्व को समझते हुए ही दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी द्वारा अपभ्रंश साहित्य अकादमी विभिन्न गतिविधियों के साथ संचालित है। अपभ्रंश भाषा के अध्ययन-अध्यापन के लिए अपभ्रंश सर्टिफिकेट पाठ्यक्रम व अपभ्रंश डिप्लोमा पाठ्यक्रम निःशुल्क चलाये जा रहे हैं और इसी के क्रम में अपभ्रंश रचना सौरभ, अपभ्रंश काव्य सौरभ आदि पाठ्यपुस्तकें प्रकाशित हैं।

'अपभ्रंश भारती' पत्रिका का प्रकाशन अपभ्रंश भाषा और साहित्य के पुनरुत्थान व प्रचार के लिए उठाया गया एक कदम है। विद्वानों द्वारा अपभ्रंश साहित्य पर की जा रही शोध-खोज को 'अपभ्रंश भारती' के माध्यम से प्रकाशित करना हम अपना कर्तव्य समझते हैं। इस अंक में अपभ्रंश साहित्य के विविध पक्षों पर विद्वान लेखकों ने अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। हम उन सभी के प्रति आभारी हैं।

पत्रिका के सम्पादक, सहयोगी सम्पादक एवं सम्पादक मण्डल धन्यवादाह हैं। इस अंक के मुद्रण के लिए जयपुर प्रिन्टर्स प्राइवेट लिमिटेड, जयपुर भी धन्यवादाह है।

कपूरचन्द पाटनी  
मंत्री

नरेशकुमार सेठी  
अध्यक्ष

प्रबन्धकारिणी कमेटी  
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी

## सम्पादकीय

भारत विभिन्न भाषाओं का देश है। यहाँ अति प्राचीनकाल से ही सांस्कृतिक अभिव्यक्ति के लिए लोक-भाषा में साहित्य लिखा जाता रहा है। अपभ्रंश अपने समय की विशिष्ट लोकभाषा बनी। ईसा की छठी शताब्दी में अपभ्रंश भाषा साहित्यिक अभिव्यक्ति के लिए सशक्त माध्यम हो गई थी। साहित्यरूपों की विविधता और वर्णित विषय-वस्तु की दृष्टि से अपभ्रंश साहित्य बड़ा ही समृद्ध एवं मनोहारी है। विद्वान लेखकों ने इस अंक में इन्हीं साहित्यरूपों की विविधता एवं अपभ्रंश के कवियों द्वारा वर्णित विषय-वस्तु का विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार किया है।

यहाँ यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि हिन्दी साहित्य के आरम्भिक तीनों कालों पर तो अपभ्रंश का प्रभाव विशेषरूप से पड़ा ही है, किन्तु इस प्रभाव से आधुनिक काल भी नहीं बच पाया है। हिन्दी के प्रायः सभी काव्यरूप किसी न किसी रूप में अपभ्रंश से प्रभावित हैं। अपभ्रंश के अनेक काव्यरूप, काव्यशैलियां हिन्दी में भी विकसित हुईं। हिन्दी में काव्य के लिए चरित शब्द का प्रयोग अपभ्रंश से ही आया है। हिन्दी का मात्रिक छन्द और तुकान्त शैली अपभ्रंश की ही देन है।

जोइंदु ने अपने काव्य में कतिपय ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जो अपभ्रंश साहित्य में सर्वथा नवीन तो हैं ही, विलक्षण भी हैं। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के विकास में जोइंदु की भाषा प्रमाण-स्वरूप प्रस्तुत करने में महत्वपूर्ण है। जिन देशी शब्दों का मूल अभी तक नहीं खोजा जा सका है, संभव है उन्हें जोइंदु की अपभ्रंश की सहायता से खोजने में सफलता प्राप्त हो।

अपभ्रंश काव्य में रहस्यवाद की अभिव्यक्ति की मूल प्रेरणा जैन मुनियों की शान्तरसमयी ध्यान-दशा तथा बौद्ध-सिद्धों की अनूठी मादनमयी "महासुखानुभूति" से अनुप्राणित है। जैन अपभ्रंश काव्य में रहस्यवाद का स्वतः अधिकांशतः बोधपरक रहा है और बौद्ध सिद्धों की वाणियों में सहजानन्दपरक, जिसकी अनुभूति अनेक अटपटे बिम्बों एवं प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यजित हुई है। इसीलिए अपभ्रंश के जैन कवियों की रहस्यभावना में आध्यात्मिक सन्देश की प्रवृत्ति रही है और बौद्ध-सिद्ध कवियों के रहस्यवाद में लोकोत्तर ऐकान्तिक सहजानन्दानुभूति के उद्दाम उन्मेष की।

अपभ्रंश की रहस्यवादी काव्यधारा की एक मौलिक विशेषता यह रही है कि उसमें सन्तों, सूफियों एवं वैष्णवों के रहस्यवाद में व्याप्त विरह-वेदना की छाप नहीं है। जैन अपभ्रंश कवियों द्वारा प्रतिपादित रहस्यवाद में सभी अन्य साधना प्रणालियों एवं मान्यताओं के प्रति उदारता है। अपनी विशिष्ट संसिद्धियों एवं संश्लिष्ट अभिव्यंजनाओं से अनुरंजित मौलिक उद्भावनाओं के कारण अपभ्रंश काव्य की रहस्यवादी धारा भारतीय वाङ्मय की अनूठी निधि है।

अमृततत्वों को सही भाषा, सही रास्ते और बेहद ईमानदारी से खोजने का श्रेय अपभ्रंश के मर्मी जैन सन्त कवियों को ही जाता है। अपभ्रंश के इन मर्मी सन्त कवियों ने पहली बार जनता के लिए जनभाषा में जनता के साथ होकर कहा, लिखा। इसलिए उनकी अनुभूति में सच्चाई का दम है, ईमानदारी की ताकत है।

करुणा और मैत्रीभाव से बढ़कर कोई शुभचिन्तक नहीं है। क्षमा, दया, सर्वधर्म सद्भाव आज का सर्वाधिक महत्वपूर्ण सामाजिक दायित्व है, सहअस्तित्व का आधार है। जोइन्दु आदि जैन मर्मा साधकों और कवियों की इस विचार-भाव-ज्योति के सिवा आज के जीवन की रक्षा के लिए दूसरा चारा नहीं है।

पुष्पदन्त द्वारा प्रयुक्त भाषा में तत्सम, तद्भव देशी शब्दावली का समुचित विन्यास उपलब्ध होता है। अपभ्रंश की अधिकांश रचनाओं में जो तद्भवीकरण की अनावश्यक प्रवृत्ति परिलक्षित होती है वह प्रवृत्ति 'जसहरचरिउ' में नहीं है। कवि ने प्रायः ऐसे शब्दों को यथावत् ग्रहण करने का प्रयास किया है जिनका उच्चारण लोक के लिए सरल है। मंदिर, धूम, सरस, रमणी, संसार-सरणि, फणिबद्ध, किंकर, सलिल, चारु देवी आदि तत्सम शब्द उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किये जा सकते हैं। अपभ्रंश तक ध्वनि-परिवर्तन के कारण संस्कृत शब्दों का जो रूप प्रचलित हो गया था कवि ने उसे विशेष स्थान दिया है।

प्रकृति, काव्य-शास्त्र, राजनीति आदि अनेक क्षेत्रों से बिम्ब का चयन करके कवि अपनी कल्पना शक्ति के साथ ही जीवन के विस्तृत अनुभवों का भी परिचय देता है। प्रकृति, नगर-वर्णन तथा ग्राम्य-चित्रण में कवि अपनी मौलिक उद्भावना से ऐसे उपमानों का विधान करता है कि पाठक एकदम से नये धरातल पर पहुँचकर नये अनुभव से सम्पृक्त हो उठता है।

स्वयंभू ने अपनी रचना-प्रक्रिया की कुशलता के समृद्ध, समर्थ और उत्कृष्ट बिम्बों के निर्माण में अपनी अपूर्व काव्यशक्ति का परिचय दिया है। बिम्ब-विधान मानवीकरण का ही पर्याय है और महाकवि (स्वयंभू) के नागर बिम्बों में मानवीकरण की प्रचुरता है। आचार्य कवि स्वयंभू को अप्रस्तुत योजना के माध्यम से बिम्ब सौन्दर्य के मुग्धकारी मूर्त्तन में पारगामी दक्षता प्राप्त है। अर्थबिम्ब और भावबिम्ब के समानान्तर उद्भावना में महाकवि की द्वितीयता नहीं है। महाकवि स्वयंभू की काव्यभाषा में काव्य शाश्वतिक गुण बिम्ब सौन्दर्य प्रचुर मात्रा में सुरक्षित हैं।

संदेशरासक का दोहा नवीनतायुक्त तो है ही मधुर शब्दों के चयन और चित्रों के सूक्ष्म रूपायन में समर्थ भी है। छन्दों की विविधता, वस्तु की अभिव्यक्ति शैली, विशेषकर नायिका का वाग्वैदग्ध हमें सूरदास की सामर्थ्य की याद दिलाता है। मार्मिकता, संयम और सहृदयता भी इस रचना की शक्ति है। परम्परागत होते हुए भी उनके उपमान हृदयस्पर्शी हैं। और इन सबसे महत्वपूर्ण है रचनाकार की स्वाभाविकता जो प्रभाव साम्य उपमानों की खोज में सक्रिय है। पारंपरिक चयन के विपरीत संदेशरासक अपने नायक और नायिका का चयन सामान्यजन की कथा-व्यथा से कर अपनी रचना का आधार बनाता है।

जिन विद्वानों ने अपने लेख भेजकर हमें सहयोग प्रदान किया है हम उनके आभारी हैं और भविष्य में भी इस प्रकार के सहयोग की अपेक्षा करते हैं।

हम संस्थान समिति, सम्पादक-मण्डल एवं सहयोगी कार्यकर्त्ताओं के प्रति भी आभारी हैं। मुद्रण हेतु जयपुर प्रिन्टर्स प्रा. लि. जयपुर धन्यवादाह है।

डॉ. कमलचन्द सोगाणी



जय तुहूँ गइ तुहूँ मइ तुहूँ सरणु।  
तुहूँ माय वप्पु तुहूँ बन्धु-जणु॥  
तुहूँ परम-पक्खु परमत्ति-हरु।  
तुहूँ सव्वहूँ परहूँ पराहिपरु॥

तुहूँ दंसणे णाणे चरित्रे थिउ।  
तुहूँ सयल-सुरासुरेहिँ णमिउ॥  
सिद्धन्ते मन्ते तुहूँ वायरणे।  
सञ्जाएँ जाणे तुहूँ तवचरणे॥

अरहन्तु बुद्ध तुहूँ हरि हरु वि तुहूँ अण्णाण-तमोह-रिउ।  
तुहूँ सुहमु णिरञ्जणु परमपउ तुहूँ रवि वम्भु सयम्भु सिउ॥

— महाकवि स्वयम्भू

- जय हो, तुम मेरी गति हो, तुम मेरी बुद्धि हो, तुम मेरी शरण हो। तुम मेरे माँ-बाप हो, तुम बंधुजन हो। तुम परमपक्ष हो, दुर्मति के हरणकर्ता हो। तुम सबसे भिन्न हो, तुम परम आत्मा हो।
- तुम दर्शन, ज्ञान और चरित्र में स्थित हो। सुर-असुर तुम्हें नमन करते हैं। सिद्धान्त, मंत्र, व्याकरण, सन्ध्या, ध्यान और तपश्चरण में तुम (ध्येय) हो।
- अरहन्त, बुद्ध तुम हो, हरि-हर और अज्ञानरूपी तिमिर के रिपु (शत्रु) तुम हो। तुम सूक्ष्म, निरंजन और परमपद हो, तुम सूर्य, ब्रह्मा, स्वयंभू और शिव हो।

## जसहरचरिउ की काव्यभाषा

— डॉ. रामकिशोर शर्मा

महाकवि पुष्पदंत द्वारा रचित जसहरचरिउ एक श्रेष्ठ कथा काव्य है। कवि ने महापुराण तथा णायकुमारचरिउ की रचना करने के बाद जसहरचरिउ का सृजन किया था, इसलिए प्रस्तुत कृति का अधिक प्रौढ़ होना स्वाभाविक है। अर्थ और काम से सम्बद्ध काव्य की परम्परा से असंतोष व्यक्त करते हुए कवि पुष्पदंत धार्मिक काव्य की रचना हेतु अपना तर्क प्रस्तुत करते हैं -

चिंतइ य हो धणणारीकहाए, पज्जत्तउ कयदक्कियपहाए।  
कह धम्मणिबद्धी का वि कहमि, कहियाइं जाइं ण सिवसोक्खु लहमि॥

( 1.1.5-6 )

पाप का प्रभाव बढ़ानेवाली धन और नारी की कथाएँ बहुत हो चुकीं। अतएव अब मैं ऐसी धर्म-सम्बन्धी कथा कहूँ जिससे हमें शिव-सुख (मोक्ष) प्राप्त हो सके। चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति के बाद पुष्पदंत जसहर (यशोधर) चरित कुल चार सन्धियों में प्रस्तुत करते हैं।

कवि जिस मोक्षदायिनी कथा के प्रस्तुतिकरण का संकल्प आत्म मोक्षार्थ करता है वह संस्कृत-प्राकृत से भिन्न तत्कालीन जनभाषा अपभ्रंश में निबद्ध होने के कारण व्यापक समाज की मंगल कथा बन जाती है। यशोधर की चरितात्मक कथा कवि की कल्पना-प्रसूत कथा नहीं है बल्कि यह पूर्व प्रचलित कवि-विश्रुत कथा है। इस कथा को लेकर संस्कृत और प्राकृत में अनेक ग्रंथ पहले ही लिखे जा चुके थे। महाकवि पुष्पदंत ने संस्कृत-प्राकृत को छोड़कर भाषा

के समकालीन परिवर्तित रूप को केवल ग्रहण ही नहीं किया बल्कि अपनी काव्य-प्रतिभा से अपभ्रंश काव्य को संस्कृत महाकाव्यों के स्तर पर प्रतिष्ठित किया।

महाकवि द्वारा प्रयुक्त भाषा में तत्सम, तद्भव व देशी शब्दावली का समुचित विन्यास उपलब्ध होता है। अपभ्रंश की अधिकांश रचनाओं में जो तद्भवीकरण की अनावश्यक प्रवृत्ति परिलक्षित होती है वह प्रवृत्ति 'जसहरचरिउ' में नहीं है। कवि ने प्रायः ऐसे शब्दों को यथावत ग्रहण करने का प्रयास किया है जिनका उच्चारण लोक के लिए सरल है। मंदिर, धूम, सरस, रमणी, संसार सरणि, फणिबद्ध, किंकर, सलिल, चारु, देवी आदि तत्सम शब्द उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किये जा सकते हैं। अपभ्रंश तक ध्वनि-परिवर्तन के कारण संस्कृत शब्दों का जो रूप प्रचलित हो गया था कवि ने उन्हें विशेष स्थान दिया है। जसहरचरिउ में स्वर और व्यंजन के संयोजन की प्रक्रिया कुछ संदर्भों में विशिष्ट है। इसमें ऋ के स्थान पर रि, ऐ के स्थान पर ए, औ के स्थान पर ओ, विसर्ग के स्थान पर ओ/उ के प्रयोग मिलते हैं। उदाहरणार्थ -

रिसह, रिसीसर > ऋषभ, ऋषीश्वर

गुणसेढि गुण, कैवर्त्त > केवट्ट

ऐ को अइ तथा औ को अउ के रूप में स्वीकार करके कवि ने संस्कृत उच्चारण को सुरक्षित रखा है, जैसे - भइरउ > भैरव, रउदो > रौद्र। व्यंजन ध्वनियों में मध्यग क, ग, च, ज, त, द का लोप मिलता है, जैसे -

सयल > सकल

णयरि > नगरे

पयंड > प्रचंड

राउ > राजा

धरायलि > धरातले

जइ > यदि

मध्यग ख, घ, थ, ध, भ का रूपान्तरण ह में हुआ है, जैसे -

तू मुहल > मुखर

णाह > नाथ

बल्लह > बल्लभ

मेह > मेघ

महुयल > मधुकर

न के स्थान पर सर्वत्र ण है, जैसे - वयण > वदन, लीण > लीन। आरंभिक य अधिकांशतः ज में परिवर्तित हुआ है, जैसे - जुत > युक्त। दो स्वरो के बीच में आनेवाला च-य में रूपान्तरित मिलता है, जैसे - वियारमग > विचारमग्न। श, ष दोनों स में समाहित हो गये हैं, जैसे - जोई-सरु > योगीश्वर, सव्वोसहि > सवोषधि। संयुक्त व्यंजनों के स्थान पर द्वित्व का विधान हुआ है, जैसे - कम्म (कर्म), कुलधम्म (कुल धर्म), कित्ति (कीर्ति), संतुड (संतुष्ट), कालहसद् (काहलशब्द)।

मूर्धन्यीकरण, सघोषीकरण, ह्रस्वीकरण तथा दीर्घीकरण की प्रवृत्तियाँ भी जसहरचरिउ की भाषा में परिलक्षित होती हैं।

जसहरचरिउ का व्याकरणिक विधान प्राकृत से बहुत प्रभावित है। अपभ्रंश की रूप-रचना को ग्रहण करते हुए भी महाकवि पुष्पदंत ने अनेक छन्दों में प्राकृत के विभक्तिक रूपों को स्वीकार किया है। कर्त्ता - कर्म में अपभ्रंश विभक्तिक प्रत्यय उ, आ, के साथ ही प्राकृत ओ का भी

प्रचुर प्रयोग देखा जा सकता है। माणुस, सरीर, बलु, परियणु आदि शब्दों में अपभ्रंश की उकार प्रवृत्ति द्रष्टव्य है किन्तु संतोसो, लच्छि विलासो, रहिओ, महिओ आदि में प्राकृत प्रवृत्ति देखी जा सकती है। इसी तरह कर्म 'म्', करण 'एण', सप्तमी 'म्मि' के पर्याप्त प्रयोग निर्दिष्ट किये जा सकते हैं।

अपभ्रंश में यद्यपि प्रमुख रूप से शब्दों को दो लिंगों में विभाजित किया गया है किन्तु जसहरचरिउ में नपुंसकलिंगीय-रूपों का प्रयोग कतिपय स्थलों पर द्रष्टव्य है। कवि का ध्यान लयात्मकता तथा शब्दों की ध्वन्यात्मक गतिशीलता पर है। वह सम्पूर्ण कड़वक में अनुनासिकता से समाप्त होनेवाले शब्दों की लड़ी पिरो देता है। जैसे -

मईं लिहियईं गहियईं अक्खराईं, गेयईं सरिगमपथणीसराईं।  
फल-फुल्ल-पत्त-छिज्जंतराईं, सिललेपकट्टकम्मंतराईं।  
वायरणईं णट्ठईं णवरसाईं, छंदालंकाराईं जोइसाईं।

( 1.24.3-5 )

शब्दों की पुनरावृत्ति का अद्भुत सौन्दर्य प्रस्तुत कृति में परिलक्षित होता है। कवि कहीं सर्वनाम, कहीं क्रिया-विशेषण की पुनरावृत्ति करता है। इसे पुनरुक्ति दोष नहीं कहा जा सकता है क्योंकि इस पद्धति से वह स्थान विशेष का समग्र चित्र अंकित करना चाहता है। उसके चित्रण में वर्णन-कौशल के साथ ही कथा की गतिशीलता मिलती है। अवन्ति देश का वर्णन करते हुए कवि स्थान-सूचक सार्वनामिक विशेषण का ही अनेक बार प्रयोग करता है -

जहिं चुमुचुमंति केयारकीर, वरकलमसालिसुरहियसमीर।  
जहिं गोउलाईं पउ विक्किरंति, पुंडुच्छुदंडखंडइ चरंति।

( 1.21.1-2 )

इसी तरह उज्जयिनी का चित्रण करते हुए 'जहिं' की तीन बार आवृत्ति की गयी है। केन्द्रीय वर्ण्य-विषय का बार-बार कथन करके उससे सम्बद्ध अनुभवों को समाविष्ट करने का यत्न कई छन्दों में दृष्टिगत होता है। यह पुनरावृत्ति कई स्थलों पर आलंकारिक भी है। कवि को उपमा पर उपमा देने की झक-सी लग जाती है। वास्तव में उसकी कल्पनाशक्ति बड़ी प्रबल है, क्षणमात्र में उसे गुण, धर्म एवं रूप-साम्य को द्योतित करनेवाले अनेक उपमान सूझ जाते हैं। उसकी मौलिक उद्भावना तथा सूक्ष्म निरीक्षण क्षमता का परिचय ऐसे स्थलों पर विशेषरूप से मिलता है। रूपक और उत्प्रेक्षा का एक साथ प्रयोग अधोलिखित छन्द में द्रष्टव्य है -

तारुणिण रणिण दड्ढे खलेण उग्गिं लग्गिं कालाणलेण।  
सियकेसभारू णं छारु घुलइ, थेरहो बलसत्ति व लाल गलइ।  
थेर हो पाविं णं पुण्णसिट्ठि, वयणाउ पयट्टइ रयणविट्ठि।  
जिह कामिणिणइ तिह मंद दिट्ठु, थेरहो लट्ठी वि ण होइ लट्ठि।  
हत्थहो होंती परिगलिवि जाइ, किं अण्ण विलासिणि - पासि ठाईं।  
थेरहो पयाईं णहु चिक्कमंति, जिह कुकइहिं तिह विहडेवि जंति।  
थेरहो करपसरु ण दिट्ठु केम कुत्थियपहु विणिहयगामु जेम।

( 1.28.1-6 )

उपर्युक्त पंक्तियों में कवि ने वृद्धावस्था का जो स्वाभाविक चित्र अंकित किया है वह अद्वितीय है। वृद्धावस्था का बिम्ब निर्मित करते समय वह विरक्ति और अनुरक्ति दोनों पक्षों के उपमानों का चयन करके विचित्र प्रभाव उत्पन्न करता है। वृद्ध की शारीरिक हानि, ऐन्द्रिक क्षीणता तथा आत्मीयजनों द्वारा उसकी उपेक्षा की व्यंजना बड़ी मार्मिक है।

प्रकृति, काव्य-शास्त्र, राजनीति आदि अनेक क्षेत्रों से बिम्ब का चयन करके कवि अपनी कल्पना शक्ति के साथ ही जीवन के विस्तृत अनुभवों का भी परिचय देता है। किसी आश्चर्यजनक वस्तु या घटना या वक्तव्य से व्यक्ति स्तंभित हो जाता है। राजा के पास अभयहृत्ति का आगमन तथा उसके द्वारा किये गये प्रबोधन से इसी तरह का दृश्य उपस्थित होता है। चामुण्डा देवी के मंदिर में लोग न चलते थे, न डोलते थे, जैसे मानो लेप पर बनाये गये हों अथवा जैसे मानो भित्तियों पर चित्रकार द्वारा लिखे गये हों -

ण चलइ ण वलइ णं लेपि विहिउ, णं भित्तिहिँ चित्तयेरेण लिहिउ।

( 1.20, 6 )

देह-छवि का चित्रण करते समय कवि यद्यपि पारंपरित उपमानों का ही प्रयोग करता है किन्तु उसकी दृष्टि शरीर के अंगों में झलकनेवाले भाव-सौन्दर्य की ओर भी आकर्षित हो जाती है। छुल्लक और छुल्लिका के अंगों के सौन्दर्य का अंकन करते हुए कवि कहता है कि उनकी भुजाएँ दयारूपी बल्ली की शाखाओं के सदृश हैं। यहाँ स्थूल के लिए सूक्ष्म भाव-बिम्ब की परिकल्पना की गयी है।

अद्भुत कुमार और कुमारी राजा के समक्ष प्रस्तुत हैं। वह निर्णय नहीं कर पाता कि ये कौन हैं ? मन दौड़ने लगता है वस्तुस्थिति की पहचान के लिए। एक-एक करके अनेक देवी-देवताओं की कल्पना उभरने लगती है। मन की गति के साथ छन्द भी गतिशील होता है - दो-दो शब्दों के चरणवाला छन्द अपनी लय और गति में प्रभावशाली बना रहे उसके लिए कवि प्राकृत की ध्वन्यात्मक प्रवृत्ति को स्वीकार करने में भी नहीं हिचकता है। अन्त्य अक्षर की दीर्घता छन्द को गीतात्मक टेक से युक्त कर देती है -

अणिंदो खगिंदो	दिणिंदो फणिंदो।
सुरिंदो उविंदो	महारुंदचंदो।
सिसूरूवधारी	मुरारी पुरारी।
अणंगो असंगो	अभंगो अलिंगो।
x	x
सुहाणं व जोणी	तवाणं व खोणी।
दुहाणं व हाणी	कवीणं व वाणी।

( 1.18, 1-10 )

राजा विचार करता है कि यह बालक कोई खगेन्द्र है, द्विजेन्द्र, फणीन्द्र या सुरेन्द्र या उपेन्द्र या पूर्ण चन्द्र है। शिशुरूप में मुरारी है या त्रिपुरारी है या स्वयं कामदेव है। तो भी यह निसंग,

अभंग और अलिंग है। यह कुमारी शुभों की योनि है या तपों की खानि है, दुःखों की हानि है या कवियों की वाणी है। सन्देह का इतना प्रभावशाली विधान पुष्पदंत जैसे सशक्त कवि के द्वारा ही संभव है। उसकी चेतना स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म एवं सूक्ष्मतम स्तरों पर व्याप्त हो जाती है। एक बालिका को कवि की वाणी के रूप में कल्पित करना उसके सूक्ष्म अनुभवन का ही परिचायक है।

प्रकृति, नगर-वर्णन तथा ग्राम्य-चित्रण में कवि अपनी मौलिक उद्भावना से ऐसे उपमानों का विधान करता है कि पाठक एकदम से नये धरातल पर पहुँचकर नये अनुभव से सम्पृक्त हो उठता है। रात्रि का वर्णन करते हुए कवि कहता है - सूर्य उदित हुआ और फिर मानो अधोगति को प्राप्त हुआ, जैसे - कहीं बोया हुआ बीज लाल अंकुर के रूप में प्रकट हुआ है, उसके द्वारा वह संध्यारूपी लता प्रकट होकर समस्त जगतरूपी मंडप पर छा गयी। वह तारावली-रूपी कुसुमों से युक्त हो गयी तथा पूर्ण चन्द्ररूपी फल के भार से झुक गयी। रात्रि के लिए लता, पुष्प और फल का बिम्ब एकदम मौलिक है -

रवि उग्गु अहोगड़ णं गयउ, णं रत्तउ कंदउ णिक्खियउ।  
तहिं संझा वेल्लि वाणीसरिय, जगमंडवि सा णिरु वित्थरिय।  
तारावलिकुसुमहिं परियरिय, संपुण्णचंद चंदफल भरणविय।

( 2.2, 2-4 )

कवि ने प्रेम की सम्वेदना तथा काम भाव की अतिशयता का चित्रण सर्पदंश के बिम्ब द्वारा किया है। कामातुर व्यक्ति की काँपती, बल खाती एवं गतिशील देह उसके अन्तस्तल में जागृत काम भाव के प्रबल आवेग को ही व्यंजित करती है -

सव्वंगु मज्झु रोमंचियउ, सव्वंगु सेयसंसिंचियउ।  
सव्वंगु बप्प वेवइ वलइ, णं सविससप्पदट्टउ चलइ।

( 2.5, 3-4 )

कवि केवल मधुर एवं मोहक रूपों के चित्रण में ही नहीं रमता, विरूप के चित्रण में भी वह सिद्धहस्त है। एक ओर यदि वह दैहिक संरचना के सन्तुलित एवं ओजस्वी रूप को प्रस्तुत करता है तो दूसरी ओर देह की विकृति और मानव की क्रूरता का भी जीवन्त चित्र खींचता है। एक कुबड़े पुरुष का चित्रण करते हुए कवि आन्तरिक घृणा को भी उजागर कर देता है क्योंकि वह विवाहिता स्त्री, जो रानी के गौरव से मंडित है, का अवैध प्रेमी है। कवि कहता है -

अइ अइडवियइडहइड विसमु, णिरु फुट्टपाय कयणयविरमु।

( 2.6, 12 )

पुरुष वर्णों की योजना से उस पुरुष की परुषता सहज ही व्यंजित हो जाती है। विरक्त भाव को व्यंजित करने के लिए पुष्पदंत नारी को विषशक्ति के समान मारणशील, अग्नि की घमावली के समान घर को मैला करनेवाली कहते हैं।

बीप्सा अलंकार के माध्यम से कवि दैहिक नश्वरता को अंकित करता है। उसकी दृष्टि में

मनुष्य का शरीर दुःख की पोटली है उसे जितना धोओ उतना ही अशुद्ध होता है। सुगन्धित पदार्थ का लेप मैल में बदल जाता है -

माणससरीरु दुहपोदटलउ, धोयउ धोयउ अइविदटलउ।  
वासिउ वासिउ णउ सुरहि मलु, पोसिउ पोसिउ णउ धरइ बलु॥

(2.11, 1-2)

कवि वातावरण के निर्माण में सिद्धहस्त है। क्रिया-बिम्बों के द्वारा वह सम्पूर्ण दृश्य को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर देता है।

वर्णन के बीच में आनेवाले मुहावरे तथा लोकोक्तियों से पुष्पदंत की काव्य-भाषा जीवन्त हो जाती है। उसमें व्यापक व्यंजना के गुण स्वतः आ जाते हैं। उदाहरणार्थ - रणणे रुण्णं वियलइं सुण्णं (अरण्य रोदन की तरह शून्य एवं निष्फल हो जाना)। वैसे पुष्पदंत की रुचि मुहावरों तथा लोकोक्तियों के प्रयोग की नहीं है। सम्पूर्ण काव्य में बहुत कम मुहावरे उपलब्ध हैं। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि जसहरचरिउ की भाषा परिनिष्ठित अपभ्रंश है। कवि ने विविध भावों, अनुभावों, स्थितियों, चरित्रों, दृश्यों के वर्णन में अलंकार, बिम्ब, प्रतीक आदि माध्यमों से भाषा को सशक्त एवं समृद्ध बनाया है।

रीडर, हिन्दी विभाग  
इलाहाबाद विश्वविद्यालय  
इलाहाबाद

## अपभ्रंश के समरसी मर्मी कवि मुनि जोइन्दु : प्रासंगिकता की कसौटी पर

— डॉ. शम्भूनाथ पाण्डेय

•

आज का युग वैज्ञानिक युग कहा और कहलाया जा रहा है। दावा भी किया जा रहा है कि जैसी प्रगति आज हुई है, वैसी कभी नहीं हुई थी। मानव की सुख-सुविधा के सभी साधन उपलब्ध हो रहे हैं। सागर की गहराइयाँ और पर्वतों की ऊँचाइयाँ माप ली गई हैं। पृथ्वी का चप्पा-चप्पा खोज लिया गया है। दूसरे लोकों में भी मानव के पैर पड़ने लगे हैं। अब यह शिकायत नहीं रही कि साधनों के अभाव में एक छोर का मानव दूसरे छोर के मानव को नहीं जानता, पर वास्तविकता यह है कि मानव-मानव की दूरी जितनी आज बढ़ी है, उतनी कभी नहीं थी।

दूसरी ओर ज्ञान का क्षेत्र बड़ा व्यापक हो गया है। मनुष्य की जिगीषा शक्ति अपरम्पार हो गई है। जिजीविषा उसे न जाने कहाँ से कहाँ ले गई है। वह छककर सबका उपभोग कर लेना चाहता है - जड़ और चेतन, प्रकृति और पुरुष दोनों का। आज सर्वत्र भोगवादी प्रवृत्ति का ही बोलबाला है। इसी के चलते आज मानव-जीवन में अनेकानेक जटिलताओं और विषमताओं ने घर कर लिया है, डेरा डाल दिया है। सुख-दुःख का वैषम्य, अनन्त इच्छाएँ और उनकी पूर्ति की वेदना का वैषम्य, अन्तहीन आकांक्षाओं और उनकी तृप्ति की अतिशय दुष्प्राप्यता का वैषम्य, अधिकारी और अधिकृत, शासक और शासित की असमानता का वैषम्य, आदि कितने प्रकार की असमानताओं और विषमताओं ने आदमी को 'आदमी की परिभाषा' भी भुलवा दिया है। इन्सानियत को इन्सान से हटाकर उसे हैवान बना दिया है। मनुष्य, मनुष्य से दूर हुआ है - जाति-



पाँति में बँटकर, धर्म-सम्प्रदाय की दीवार खड़ीकर, काले-गोरे, ऊँच-नीच का भेद-भाव बढ़ाकर। वह आज एक नहीं है, अनेक है - हिन्दू है, मुसलमान है, सिख है, ईसाई है, चीनी, जापानी, फ्रांसीसी, अंग्रेज, अमेरिकन, रूसी है। वह देश-विदेश, प्रदेश में बँटा है। जैसे लगता है कि 'भूमा का आनन्द', 'वसुधैव कुटुम्बकम् का सुख' उसके लिए छलावा है। इसीलिए मन्दिर-मस्जिद, गिरिजाघर और गुरुद्वारे का झगड़ा है। 'प्रसादजी' के शब्दों में सर्वत्र 'तुमुल कोलाहल कलह' है। ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, अहंकार, मद, मत्सर और पद के चलते वह डरता है, डराता है, फिर-फिर उसकी उपासना करता हुआ इतिहास के पृष्ठों को रक्तरंजित कर विलीन हो जाता है - 'भयभीत सभी को भय देता, भय की उपासना में विलीन'<sup>12</sup> और उसको 'जीवन-निशीथ के अन्धकार'<sup>13</sup> के अलावा कुछ नहीं मिलता।

आज का आदमी इन्हीं बाह्य एवं आन्तरिक संकटों को लेकर जी रहा है। उसके जीवन में अशान्ति, अन्तर्कलह, अपनर्मिलता (एबनार्मिलिटी), दुश्चिन्ता, असामान्य तनावग्रस्तता, निराधार भयाक्रान्तता, मानसिक रुग्णता का विष घुल-घुल कर उसे मार रहा है। पर ऐसी स्थिति है क्यों ?

वस्तुतः मानव की इस स्थिति एवं नियति का मूल कारण है - सामाजिक मूल्यात्मक चेतना का अभाव, समष्टि-मानव में विश्वास की अवधारणा की कमी, जीवन को समवाय एवं समग्ररूप से न देखने की हठधर्मिता, सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र-रूपी रत्नत्रय की कमी, स्वसंवेद्यमार्गी न होकर परसंवेद्यमार्गी बनकर रूढ़ धार्मिक शास्त्रों, पूजा-पाठ संबन्धी जड़ताओं, विविध प्रकार की अंध आस्थाओं तथा जाति-पाँति, वर्ण-भेद सम्बन्धी अन्तर्विरोधी व्यवस्थाओं में विश्वास और जीवन को स्वस्थ बनानेवाले अमृततत्व - सामंजस्य-समन्वय-समरसता को नितान्त अनबूझी एवं अनदेखी कर देनेवाली प्रवृत्ति। इसी के कारण ही समाज की यह दारुण एवं दयनीय स्थिति हो गयी है। निराशा की ऐसी स्थिति में अपभ्रंश के मर्मी जैन कवि आशा का संचार करते हैं। वस्तुतः मनुष्य के भीतर ऐसी स्वस्थकर प्रवृत्तियाँ और चेतना के प्रकाश स्तर हैं जिनसे हमें आशा बँधती है, निराशा का कुहासा फट जाता है, अन्धकार को भेदती प्रकाश की किरणें प्रस्फुटित हो जाती हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शब्दों में, "मनुष्य के अन्तर में सामंजस्य की प्रवृत्ति पायी जाती है। बाहर उपकरण और आडम्बर का अन्त नहीं पाया जाता, किन्तु भीतर संतोष रहता है; बाहर दुःख-दर्द की सीमा नहीं रहती, पर अन्तर में धैर्य पाया जाता है; बाहर विरोध पाया जाता है, पर अन्तर में क्षमा रहती है; बाहर लौकिक सम्बन्धों का पार नहीं पाया जाता, पर भीतर विराजता है प्रेम; बाहर संसार के विस्तार का अन्त नहीं है, पर अन्तर में आत्मा में ही आत्मा को पूर्णता प्राप्त हो जाती है। एक ओर के अशेष द्वारा ही दूसरी ओर की अखंडता की उपलब्धि पूरी होती है।"<sup>14</sup>

पर इन अमृतत्वों को सही भाषा, सही रास्ते और बेहद ईमानदारी से खोजने का श्रेय अपभ्रंश के मर्मी जैन सन्त कवियों को ही ज्ञाता है। वैसे कहने के लिए बड़ी-बड़ी बातें पवित्र और लच्छेदार भाषा में कही जाती हैं पर वहाँ कथनी और करनी में फर्क होता है। लिखने, सोचने और बोलनेवाली भाषा में जमीन-आसमान का अन्तर होता है। अपभ्रंश के इन मर्मी सन्त कवियों ने पहली बार जनता के लिए जनभाषा में जनता के साथ होकर कहा, लिखा। इसलिए उनकी अनुभूति में सच्चाई का दम है, ईमानदारी की ताकत है। इस ताकत का अन्दाजा इसी से लगाया

जा सकता है कि जिस कथ्य और जनजीवन की अभिव्यक्ति प्रणाली के रूप में इन्होंने अपने लाड़ले छंद दोहा एवं काव्यरूपों का प्रयोग किया उनका एकछत्र राज्य नाथों-सिद्धों से गुजरते हुए मध्यकालीन सन्त कवियों - कबीर, नानक, दादू, जायसी, सूर, तुलसी तक छाया रहा। लोकतत्व, लोकजीवन और लोकभाषा का घनिष्ठ सम्बन्ध और अविच्छिन्न प्रवाह चलता रहा। इसीलिए आचार्य पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपभ्रंश को 'हिन्दी का प्राणतत्व, प्राणधारा कहा'।<sup>6</sup> आज भी जैसे अपभ्रंश के वे कवि और उनका काव्य, वात्सल्यमयी माँ के रूप में अपनी संतान को ज्ञान, श्रद्धा और कर्म को समरस बनाकर मानव के संताप-समूह को निचोड़ने और उसके भाग्य का उदय करने का प्रासंगिक संदेश दे रहे हों -

यह तर्कमयी तू श्रद्धामय, तू मननशील कर कर्म अभय।  
इसका तू सब संताप निचय, हर ले, हो मानव भाग्य उदय।  
सबकी समरसता कर प्रचार, मेरे सुत सुन मां की पुकार।<sup>6</sup>

मानव-जीवन में व्याप्त प्रदूषण के निराकरण के लिए गुहार और पुकार करनेवाले अपभ्रंश संत कवियों में जैन मुनि जोइन्दु (योगीन्द्र) का नाम शीर्षस्थ है जिनकी प्रासंगिकता आज भी ज्यों की त्यों नहीं, अपितु उससे बढ़कर, बरकरार है। जोइन्दु सम्भवतः राजस्थान के रहनेवाले थे। इनका समय डॉ. ए. एन. उपाध्ये छठी-सातवीं,<sup>7</sup> डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी आठवीं-नवीं<sup>8</sup> तथा पं. राहुल सांकृत्यायन 10वीं<sup>9</sup> शती मानते हैं। डॉ. कमलचन्द सोगाणी ने इनके दोनों ग्रंथों - परमात्मप्रकाश (परमप्यासु) एवं योगसार को अपभ्रंश-साहित्य में सबसे प्राचीन माना है।<sup>10</sup> इनमें क्रमशः 337 तथा 108 दोहे हैं। स्वयं डॉ. सोगाणी ने 'परमात्मप्रकाश व योगसार चयनिका'<sup>11</sup> नाम से सारगर्भित संग्रह प्रकाशित कर बड़ा कल्याणकारी काम किया है। चुनिन्दे दोहों के माध्यम से इस कवि के मर्म तक पहुँचने और मूल्यांकन में इसकी अहम भूमिका को नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता।

डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'मध्यकालीन-धर्म-साधना' नामक पुस्तक में कहा है कि उन्नीसवीं शताब्दी के पश्चिमीय विचारकों ने साधारणतः सन् 476 ई. से लेकर 1553 ई. तक के काल को मध्ययुग कहा है' पर उन्हीं के अनुसार 'असल बात यह है कि मध्ययुग शब्द का प्रयोग काल के अर्थ में उतना नहीं होता जितना एक खास प्रकार की पतनोन्मुख और जकड़ी हुई मनोवृत्ति के अर्थ में होता है। मध्ययुग का मनुष्य धीरे-धीरे विशाल और असीम ज्ञान के प्रति जिज्ञासा का भाव छोड़ता जाता है और धार्मिक आचारों और स्वतःप्रमाण माने जानेवाले आप्त वाक्यों का अनुयायी होता जाता है। साधारणतः इन्हीं की बाल की खाल निकालनेवाली व्याख्याओं पर अपनी समस्त बुद्धि-सम्पत्ति खर्च कर देता है।<sup>12</sup> सर्वत्र एक प्रकार की अधोगति का ही आभास मिलता है। इस सार्वत्रिक अधोगति का कारण इस देश की राजनीतिक स्थिति थी।<sup>13</sup> गरज यह कि वह काल आज के युग से बहुत भिन्न नहीं था। जब जड़त्व घर कर गया हो, बाह्याचार का इतना बोल-बाला हो गया हो कि अपने क्षणिक स्वार्थलाभ के लिए असंख्य देवी-देवताओं की भावहीन पूजा में लोग निरत हो जायँ। भूत-प्रेत-पिशाचों की सुमरनी होने लगे। ओझा, तांत्रिक, यांत्रिकों और ज्योतिषियों की ऐसी बन आये कि वे भोली-भाली जनता से पीपल, बरगद, तालाब, पोखर, झाड़-झंखाड़, पत्थर, पहाड़, गोबर-गणेश तक की पूजा

करवाने लगें। प्रपंच बुद्धि, बाह्याडंबर, शुष्क ज्ञान, तीर्थाटन, पंडे-पुरोहितों का मकड़जाल इतना फैल जाय कि लोग अपने 'घर की चक्की की पूजा' यानि स्वावलम्बन की भावना ही भूल जायें। पत्थर की मूर्ति की पूजा करें और पत्थर दिल होकर मनुष्य को ही पत्थर मानें, उससे घृणा करें। इससे बढ़कर और विडम्बना क्या हो सकती है। जैन कवि जोइन्दु ने अपनी कविता के माध्यम से इस जकड़बन्दी का जोरदार विरोध किया। चित्तशुद्धि पर जोर दिया, इस शरीर को ही सभी साधनाओं का आधार माना, समचित्ति यानि समान चेतना के आधार पर मनुष्य को 'एक' माना। आत्मोपलब्धि और मानवात्मा की मुक्ति अपना लक्ष्य बनाया। वे कहते हैं कि "देवता न तो देवालय में है, न शिला में, न चन्दनादि के लेप में, न चित्र में - वह अक्षय निरंजन ज्ञानमय शिव तो शुभ एवं समचित्त में निवास करता है" -

देउ ण देउले णवि सिलए, णवि लिप्पइ णवि चिन्ति।

अखय णिरञ्जणु णाणमउ, सिउ संठिउ समचित्ति॥<sup>14</sup>

समचित्ति, परमार्थ (आत्मा-समता) का पर्यायवाची है। ऐसे व्यक्ति के अन्तर और बाह्य दोनों शुद्ध होते हैं। उसकी चेतना उर्ध्वगामी होती है। जागृत होती है। उसमें शुद्ध-मंगल भावनाएं निवास करती हैं। वह अहिंसा, मैत्री और क्षमा में विश्वास करता है। वह विमलात्मा ही परमात्मा है। इसी की चरमानुभूति उसका काम्य है। वह सबमें इसी परमात्मप्रकाश को देखना चाहता है। वह मानव की एकता-मानवात्मा में विश्वास करता है। इसी में सबका उद्धार और कल्याण देखता है। इसीलिए भेद-विभेद, तीर्थ, गुरु, शास्त्र-पुराण जो परसंवेद्यमार्गी बनाकर लोगों को भटकाते हैं, आदमी को आदमी से दूर करते हैं, उसे त्याग देने की बात करते हैं। जोइन्दु कहते हैं- "मैं गोरा हूँ, मैं श्यामल हूँ, मैं विभिन्न वर्ण का हूँ, मैं तन्वांग हूँ, मैं स्थूल हूँ, मैं श्रेष्ठ ब्राह्मण हूँ, मैं (धनवान) वैश्य हूँ, मैं (श्रेष्ठ) क्षत्रिय हूँ, मैं शुद्र हूँ, मैं पुरुष, नपुंसक, स्त्री, ऐसा वर्ण, जाति, लिंग भेद मूर्ख विशेष ही मानता है"-

हउँ गोरउ हउँ सामलउ हउँ जि विभिण्णउ वण्णु।

हउँ तणु-अंगउ थूलु हउँ एहउँ मूढउ मण्णु॥<sup>15</sup>

हउँ वरु बंभणु वइसु हउँ, हउँ खत्तिउ हउँ सेसु।

पुरिसु णउंसउ इत्थि हउँ, मण्णइ मूढु विसेसु॥<sup>16</sup>

इसी प्रकार वे कहते हैं कि विमलात्मा को छोड़कर मूढ़ ही दूसरे की सेवा की मृगमरीचिका में भटकते हैं - "विमलात्मा को छोड़कर, हे जीव! अन्य तीर्थ में मत जाओ, अन्य गुरु की सेवा मत करो, अन्य देवता की चिन्ता मत करो। निजमन (स्वसंवेद्य) निर्मल आत्मा शास्त्र-पुराण-तप-चरण (कठोर) नियम में नहीं बसती, और न तो इनसे मोक्ष की प्राप्ति ही होती है"-

अण्णु जि तित्थु म जाहि जिय, अण्णु जि गुरुउ म सेवि।

अण्णु जि देउ म चिन्ति तुहँ, अप्पा विमलु मुएवि॥

अप्पा णिय-मय णिम्मलउ, णियमें वसइ ण जासु।

सत्थ-पुराणइ तव-चरणु, मुक्खु वि करहिं कि तासु॥<sup>17</sup>

आज का सबसे बड़ा धर्म है 'मानवता।' 'मानव की एकता' में विश्वास, 'समष्टि मानव' के हित की चिन्ता, समस्त प्रयोजनों से मनुष्य को बड़ा मानने की भावना प्रायः सभी विचारकों, चिन्तकों के चिन्तन का विषय है। डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि "समस्त ऊपरी हलचलों के विक्षुब्ध तरंग-संघात के नीचे निस्तब्ध भाव से विराजमान है मनुष्य की एकता। मनुष्य एक है, भेद-विभेद ऊपरी बातें हैं"।<sup>18</sup> पर इस लक्ष्य की प्राप्ति साधारण बात नहीं है। इसके लिए त्याग, तपस्या और चित्त की शुद्धि अत्यन्त आवश्यक है। प्रकारान्तर से वे वही बातें कहते हैं जिसे जोइन्दु ने कहा है। आचार्य द्विवेदी के अनुसार, 'मनुष्य की इस महान एकता को पाने के लिए समस्त संकीर्ण स्वार्थों का बलिदान, क्षणिक आवेगों का दमन, उत्ताल संवेगों का निरोध, अशुचि वासनाओं का संयमन, गलत तर्कपद्धति का निरास और आत्मधर्म का विवेक आवश्यक साधन हैं। इन्हीं से वह परम आनन्द चित्त में उच्छल हो उठता है जिसका प्रकाश साहित्य है।'<sup>19</sup> ऐसी ही भावनाओं का साहित्य जोइन्दु का परमात्मप्रकाश है जिसकी प्रासंगिकता आज के संदर्भ में और अधिक उपयोगी है।

थोड़ी गहराई से देखें तो 'मनुष्य की एकता' या 'समष्टि मानव की भावना' जैनधर्म और साहित्य में कितनी गहराई के साथ पैठी हुई है। जैन साधक बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा आदि अगणित आत्माओं में विश्वास करते हैं।<sup>20</sup> ये आत्मा क्रोध, मोह, मद, माया, मत्सर, लोभ, अहंकार आदि इन्द्रियादिक विषयों से मुक्त होने के बाद परमात्मा हो जाते हैं। इन परमात्माओं के गुण एक समान हैं इसलिए वे 'एक' कहे जा सकते हैं। यह 'एकत्वानुभूति' या 'समत्वप्रज्ञा' आसक्ति की कषाय छोड़े शुद्ध ज्ञान से प्राप्त होती है और इसका प्रमुख साधन चित्त शुद्धि है। वस्तुतः यह वह मूल्य है जिसके बिना कोई बड़ी उपलब्धि हो ही नहीं सकती। 'मानवता' या 'मानव का एकत्व' और उसका कल्याण जैसे बड़े काम की संकल्पना के लिए चित्त की शुद्धि या बड़े हृदय का होना अत्यावश्यक है। यदि संकल्प महान है तो प्रयत्न भी महान होना ही चाहिये। यह एक युग की बात नहीं, युग-युग की बात है। अतः जोइन्दु का यह कथन आज भी सर्वथा प्रासंगिक है कि - "चित्त शुद्धि के बिना मोक्ष नहीं हो सकता। चाहे जीव जितने तीर्थों में नहाता फिरे और जितनी तपस्या करता फिरे, मोक्ष तभी होगा जब चित्त शुद्ध हो" - हे जीव, जहाँ खुशी हो जाओ और जो मर्जी हो करो किन्तु जब तक चित्त शुद्ध नहीं होगा तब तक मोक्ष नहीं मिलेगा।

जहिं भावइ तहिं जाहि जिय, जं भावइ करि तं जि।

केम्बइ मोक्खु ण अत्थि पर, चित्तहं सुद्धि णं जं जि।<sup>21</sup>

इस प्रकार जोइन्दु के अनुसार मानव शरीर ही साधना का सर्वोत्तम स्थल है। ब्रह्मांड की सब चीजें इसी पिंड में वर्तमान हैं। देवता कहीं बाहर नहीं, शिव के रूप में इसी पिंड में ही वर्तमान है। उससे अभेद सम्बन्ध जोड़कर 'एकत्व' की पुनीत भावना की धारणा अनुस्यूत हो सकती है। पर मन से भेदबुद्धि समाप्त करने के लिए चित्तशुद्धि आवश्यक है। जोइन्दु कहते हैं कि - 'हे योगी! अपने निर्मल मन में ही शांत शिव का दर्शन होता है। चनरहित निर्मल आकाश में ही सूर्य चमकता है। और यह अन्धकाररूपी बादल ज्ञानरूपी सूर्य से ही छँटता है। जोइन्दु के अनुसार - "दान करने से भोग मिल सकता है, तप करने से इन्द्रासन भी मिल

सकता है, पर जन्म और मरण से विवर्जित (रहित) पद पाना चाहते हो तो ज्ञान ही से हो सकता है”-

जोइय णिअ-मणि णिम्लए, पर दीसइ सिउ सन्तु।  
 अम्बरि णिम्ले घण-रहिए, भाणु जि जेम फुरंतु।<sup>2</sup>  
 दाणि लभइ भोउ पर इन्दत्तणु वि तवेण।  
 जम्पण मरण विवज्जियउ, पउ लब्भइ णाणेण।<sup>3</sup>

आज जीवन के सभी क्षेत्रों में दूरी बढ़ी है, खाई गहरी हुई है। अनमिल, अन्तर्विरोधी तथा स्वतःविरोधी भावों और विचारों का चक्रजाल फैला है। व्यर्थ के वाद-विवाद उठ खड़े हुए हैं। साम्प्रदायिक उन्माद उमड़े हैं। पारस्परिक कलह बढ़े हैं। शांति क्षीण हुई है और अशान्ति का बोलबाला है। जीवन का संगीत सर्वत्र बेसुरा हो गया है। इसीलिए सामंजस्य, समन्वय, समरसता और संगति की जितनी आवश्यकता आज महसूस हो रही है, उतनी कभी नहीं थी। विध्वंस जितना भयावना आज है उतना कभी नहीं था। जाहिर है कि यदि मानवता को बचाना है, उसे विजयिनी बनाना है तो विश्व के हर प्रकार के शक्ति के विद्युतकण जो निरुपाय, व्याकुल और बिखरे घूम रहे हैं, उनका संकलन, सामंजस्य और समन्वय ही एकमात्र उपाय है।<sup>4</sup>

इस संदर्भ में अपभ्रंश के जैन संत कवियों के ‘सामंजस्य भाव’ की प्रासंगिकता आज के युग के लिए अपरिहार्य है।

‘सामरस्य भाव’ जैन मुनियों के साधनात्मक चिंतन का पारसमणि है। इसके माध्यम से वे न जाने कितने कुधातुओं को ‘पारस परस कुधातु सुहाई’ के रूप में सुहावना बना देते हैं। सांसारिक जीवों में परमात्मप्रकाश की किरण फैला देते हैं। यह उस युग की महत्त्वपूर्ण साधना है। प्रायः सभी धर्मों के साधक इसका व्यवहार करते हैं पर सिद्धान्त और आचरण का जो स्वस्थ एवं सुन्दर स्वरूप जैनधर्म में प्राप्त होता है, वह अन्यत्र नहीं है। मन इच्छा के वशीभूत है। वह स्वभावतः चंचल है। वह अभावों की पूर्ति के लिए और-और अभावों की ओर भागता जाता है। अतृप्ति का संसार रच लेता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अतृप्ति ही हिंसात्मक कार्यों में परिणत होती है। फलस्वरूप मनुष्य अनेक मानसिक दुर्वृत्तियों से आक्रांत होता है। ईर्ष्या से ग्रस्त होता है। ईर्ष्या में दूसरे की सुख-सुविधा के प्रति अनुदार संकीर्णता और विरोध का भाव रहता है। मनुष्य अहं-केन्द्रीय बनता चला जाता है। इस सृष्टि में दुःख, कष्ट और विक्षुब्धता का मूल कारण यही है। इस मनोवैज्ञानिक सत्य को जोइन्दु ने भलीभांति समझा था। इसलिए उन्होंने इसी पिंड में शिव के रूप में जीवात्मा या परमात्मप्रकाश के रूप में जो वर्तमान है, उसी से मन के मिल जाने, एकमेक होकर मिल जाने को सामरस्य कहा है। इस स्थिति में निरर्थक द्वंद्व मिट जाते हैं। भेद की स्थिति लुप्त हो जाती है। समरसी भाव का आनन्द व्याप्त हो जाता है। शिव और शक्ति का मिलन हो जाता है। मुनि जोइन्दु कहते हैं कि - मन जब परमेश्वर से मिल जाता है और परमेश्वर जब मन से तो दोनों का समरसी भाव यानि सामरस्य हो जाता है। यह अपने आप में इतना ऊँचा भाव हो जाता है कि इस अवस्था में पूजा और उपासना की भी आवश्यकता नहीं रहती। इस परम प्राप्तव्य की प्राप्ति से पूष्य-पूजक सम्बन्ध समाप्त

हो जाता है क्योंकि जब जीव और परमात्मा में कोई भेद ही नहीं रहा तो कौन किसकी पूजा करे -

मणु भिलियउं परमेसरहैं, परमेसरउ वि मणस्सु।  
बीहि वि समरस हूवाहैं, पुञ्ज चढावउं कस्स।<sup>25</sup>

इस सामरस्य भाव में समस्त इन्द्रिय एवं इन्द्रियार्थ उदात्तीकृत होकर सर्वात्म हित के लिए समर्पित होकर उसी प्रकार तिरोहित हो जाते हैं जैसे सरिताएँ अपने को समर्पित करते हुए तिरोहित होकर सागर बन जाती हैं। इसमें मन, बुद्धि, संवित (चेतना) ऊहापोह, तर्क-वितर्क सब शान्त हो जाते हैं। आत्मा आकाश की भाँति, शून्य की तरह अपने आप में ही रम जाता है। इसमें पर-संवेदन के आधार पर चलकर भटकने की स्थिति नहीं होती। इसमें भेद की स्थिति मिटकर सब आत्म (आत्मीय) अपने हैं, के महाभाव में अपने ही अपने को जानने का - स्वसंवेदन रस प्राप्त होता है। मुनि जोइन्दु ने इसे बड़ी मार्मिक भाषा में कहा है कि - बलिहारी है उस योगी की जो 'शून्य पद' का ध्यान करता है, जो 'पर' - परम पुरुष परमात्मा - के साथ समरसी भाव का अनुभव करता है, जो पाप और पुण्य के अतीत हो जाता है -

सुण्णउं पउं झार्यंतहैं बलि बलि जोइयडाहैं।  
समरसि-भाउ परेण सहु पुण्णु वि पाउ ण जाहैं।<sup>26</sup>

भला ऐसे समरसी भाववाले महायोगी पर कौन बार-बार बलिहारी नहीं जायेगा, जो उजाड़ को बसाता है और बस्ती को शून्य करता है। सम्भवतः परसंवेदनजीवी को यह कथन उलटबाँसी लगे। पर जीवन की यह विडम्बना नहीं तो और क्या है कि स्वार्थ, लोभ, काम, क्रोध आदि विविध विकारों से रची गयी यह शरीररूपी मायानगरी बालू की भीति को वह बस्ती मानता है। सांसारिक दृष्टि से तथाकथित इस बस्ती को (परमात्मप्रकाशी) योगी इसे छोड़कर, भुलाकर, उजाड़कर चित्त को उस शून्य निरंजन स्थान पर पहुँचता है जहाँ समस्त मायामोह आदि इन्द्रियार्थ तिरोहित हो जाते हैं तो योगी वस्तुतः उजाड़ को बसाता है - समरसभाव पूर्ण होता है -

उव्वस वसिया जो करइ वसिया करइ जु सुण्णु।  
बलि किञ्जउं तसु जोइयहिं जासु ण पाउ ण पुण्णु॥  
सुण्णउं पउं झार्यंतहैं, बलि बलि जोइय डाहैं।  
समरसि-भाउ परेण सहूँ, पुण्णु वि पाउ ण जाहैं।<sup>27</sup>

इस संदर्भ में महाकवि जयशंकर 'प्रसाद' के इस प्रसिद्ध गीत का मर्म कितना सार्थक है जिसे प्रायः गलत समझा गया है। 'प्रसादजी' अपने गीतरूपी नाविक से इस छल-छद्म-भरी बस्ती से उस वास्तविक बस्ती में ले जाना चाहते हैं जहाँ निश्छल प्रेम है, करुणा है, शांति है, सुख-दुःख समभाव का सत्य है और विभुता (प्रकृति) विभु (परमात्म-ब्रह्म) के रूप में एक हो जाते हैं, समरस हो जाते हैं। वस्तुतः गीत प्रगतिशील भावापन्न है -

विमुता विभु से पड़े दिखाई, दुख-सुख वाली सत्य बनी रे ।<sup>28</sup>  
ले चल मुझे भुलावा देकर, मेरे नाविक धीरे धीरे ॥

जैन मर्मा कवियों के इस भाव ने उस काल में शैव, शाक्त, वैष्णव आदि विविध धार्मिक सम्प्रदायों में बढ़ते विद्वेष को भी काफी दूर तक शमन किया। सम्यक् दृष्टि, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र का सामंजस्य उपस्थित कर लोक-कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया। वस्तुतः ये सर्व-धर्म सम-भाव के पुरोधा हैं। कवि जोइन्दु का यह कथन उस काल के साथ आज के युग के लिए कितना सार्थक प्रासंगिकता लिये हुए है, कहने की कोई आवश्यकता नहीं - उन्होंने कहा कि - सब देव एक हैं, उनमें कोई भेद नहीं है, वे इसी शरीर में बसते हैं -

सो सिउ संकरु विणहु सो, सो रुइ वि सो बुद्ध।  
सो जिणु ईसरु बंधु सो, सो अणंतु सो सिद्ध॥  
एव हि लक्खण-लक्खियउ, जो परु णिक्कलु देउ।  
देहहँ मञ्जहिँ सो वसइ, तासु ण विज्जइ भेउ॥<sup>29</sup>

इस प्रकार आज की अनिवार्य आवश्यकता है कि हम सभी प्रकार के भेद-भाव भुलाकर जीयें और दूसरों को जीने देने में सहायक बनें। जोइन्दु की यह सद्भावना ही विश्वमैत्री की पहली सीढ़ी है। इसी का मूलरूप अहिंसा है जो जैनधर्म साधना और साहित्य का प्राणतत्व है जो श्री महावीर का अमर प्राणत्व संदेश है। जैसे अणु से सूक्ष्मतर और आकाश से विस्तृत कुछ नहीं है उसी प्रकार अहिंसा से सूक्ष्म और विस्तृत कोई दर्शन नहीं है। करुणा और मैत्री-भाव से बढ़कर कोई शुभचिंतक नहीं है। क्षमा, दया, सर्वधर्म सद्भाव आज का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सामाजिक दायित्व है, सहअस्तित्व का आधार है। जोइन्दु आदि जैन मर्मा साधकों और कवियों की इस विचार-भाव ज्योति के सिवा आज के जीवन की रक्षा के लिए दूसरा चारा नहीं है।

1. कामायनी, जयशंकर 'प्रसाद', निर्वेद सर्ग, पृ. 216।
2. कामायनी, जयशंकर 'प्रसाद', इड़ा सर्ग, पृ. 157।
3. कामायनी, जयशंकर 'प्रसाद', इड़ा सर्ग, पृ. 159।
4. विश्व-मानवता की ओर, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, अनुवादक - इलाचन्द्र जोशी, पृ. 92।
5. हिन्दी साहित्य, उद्भव और विकास, डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 15, 16।
6. कामायनी, जयशंकर 'प्रसाद', दर्शन, पृ. 244।
7. परमात्मप्रकाश, डॉ. आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, इन्द्रोडक्शन, पृ. 75।
8. हिन्दी साहित्य, उद्भव और विकास, डॉ. ह. प्र. द्विवेदी, पृ. 22।
9. हिन्दी काव्यधारा, पं. राहुल सांकृत्यायन, पृ. 240।
10. परमात्मप्रकाश व योगसार चयनिका, डॉ. कमलचन्द सोगाणी, प्रस्तावना, पृ. 8।
11. परमात्मप्रकाश व योगसार चयनिका, डॉ. कमलचंद सोगाणी, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, 1898।
12. मध्यकालीन धर्म-साधना, डॉ. ह. प्र. द्विवेदी, पृ. 10।
13. मध्यकालीन धर्म-साधना, डॉ. ह. प्र. द्विवेदी, पृ. 12।
14. परमात्मप्रकाश, 1-123।

15. परमात्मप्रकाश व योगसार चयनिका, डॉ. कमलचंद सोगाणी, छंद सं. 35, पृ. 15।
16. हिन्दी काव्यधारा, पं. राहुल सांकृत्यायन, पृ. 242।
17. वही, पृ. 244।
18. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली - 7, पृ. 157।
19. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली - 7, पृ. 158।
20. द्रष्टव्य, परमात्मप्रकाश व योगसार चयनिका, डॉ. कमलचंद सोगाणी, प्रस्तावना।
21. परमात्मप्रकाश 2, 70।
22. परमात्मप्रकाश 1, 119।
23. परमात्मप्रकाश 2, 72।
24. "शक्ति के विद्युत्कण, जो व्यस्त विकल बिखरे हैं, हो निरुपाय।  
समन्वय उसका करे समस्त विजयिनी मानवता हो जाय।।"  
- कामायनी, जयशंकर 'प्रसाद', श्रद्धा सर्ग।
25. परमात्मप्रकाश 1, 123 (2)।
26. परमात्मप्रकाश 2, 159।
27. हिन्दी काव्यधारा, पं. राहुल सांकृत्यायन, पृ. 248, छं. सं. 282, 283।
28. लहर, जयशंकर 'प्रसाद'।
29. योगसार, हिन्दी काव्यधारा, पृ. 252, छं. सं. 105, 106।

हिन्दी विभाग  
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय  
वाराणसी



## हंसावलि-पक्ख-समुल्हसन्ति

हेसन्त - तुरङ्गम - वाहणेण । परियरिउ रामु णिय-साहणेण ॥ १ ॥  
 णं दिस-गउ लीलएँ पयईँ देन्तु । तं देसु पराइउ पारियन्तु ॥ २ ॥  
 अण्णु वि थोवन्तरु जाइ जाम । गम्भीर महाणइ दिदु ताम ॥ ३ ॥  
 परिहच्छ - मच्छ - पुच्छुच्छलन्ति । फेणावलि-तोय-तुसार देन्ति ॥ ४ ॥  
 कारणड - डिम्भ - दुम्भिय - सरोह । वर-कमल-करम्बिय-जलपओह ॥ ५ ॥  
 हंसावलि - पक्ख - समुल्हसन्ति । कल्लोल-वोल-आवत्त दिन्ति ॥ ६ ॥  
 सोहइ वहु-वणगय - जूह - सहिय । डिण्डीर-पिण्ड दरिसन्ति अहिय ॥ ७ ॥  
 उच्छलइ थलइ पडिखलइ धाईँ । मल्हन्ति महागय-लीलणाईँ ॥ ८ ॥  
 घत्ता - ओहर-मयर-रउद्द सा सरि णयण-कडक्खिय ।  
 दुत्तर-दुप्पइसार णं दुग्गइ दुप्पेक्खिय ॥ ९ ॥

- पउमचरिउ 23.13

- जिसका अश्ववाहन हिनहिना रहा है, ऐसे अपने सैन्य से घिरे हुए राम मानो दिग्गज की तरह लीलापूर्वक पैर रखते हुए उस पारियात्र देश पहुँचे। और भी जैसे वह थोड़ी दूर जाते हैं कि वैसे ही उन्हें गम्भीर महानदी दिखाई दी, वेगशील मत्स्यों की पूँछों से उछलती हुई, फेनावलि के जलकणों को देती हुई, हंस-शिशुओं के द्वारा काटे गये कमलों से युक्त, वर-कमलों से व्याप्त जलसमूहवाली हंसावली के पंखों से समुल्लसित, लहरसमूह के आवर्तों को देती हुई, वनगर्जों के समूह से सहित तथा प्रचुर फेन-समूह को दिखाती हुई वह शोभित होती है, उछलती है, मुड़ती है, प्रतिस्खलित होती है, दौड़ती है और महागज की लीला से प्रसन्नतापूर्वक चलती है। उलटे हुए मगरों से भयंकर नेत्रों से कटाक्ष करती हुई ऐसी दिखाई दी मानो अत्यन्त कठिन प्रवेशवाली दुदर्शनीय दुर्गति हो ॥ १-९ ॥

- अनु. डॉ. देवेन्द्रकुमार जैन

## आदिकालीन हिन्दी : भाषिक संवेदना का नव धरातल और अब्दुल रहमान

— डॉ. राजमणि शर्मा

इलियट ने रचना की श्रेष्ठता के लिए भोक्ता और रचयिता के अलगाव की शर्त आवश्यक मानी है। किन्तु केदारनाथ सिंह ठीक इसके विपरीत बात करते हैं—

मुझे कहीं भी देखा जा सकता है

किसी भी दिशा से

किसी मोड़ पर

किसी भी भाषा के अज्ञात शब्दकोश में,

तात्पर्य यह कि रचनाकार और रचना का तादात्म्य आवश्यक है। सत्य तो यह है कि यह तादात्म्य भारतीय रचना-प्रक्रिया की पहचान है। व्यास, वाल्मीकि सरहपा, कणहपा, अब्दुल रहमान, चन्दवरदायी, कबीर, सूर, तुलसी, भारतेन्दु, पंत, प्रसाद, निराला, महादेव, प्रेमचंद, अज्ञेय, हजारीप्रसाद द्विवेदी, धर्मवीर भारती, जैनेन्द्र, नरेश मेहता, शमशेर, त्रिलोचन, नागार्जुन, रघुवीर सहाय, केदारनाथ अग्रवाल, मुक्तिबोध, धूमिल, जगूड़ी आदि रचयिता भी हैं और चरित्र भी। वस्तुतः रचयिता और चरित्र की एकरूपता ही हिन्दी साहित्य और उसकी भाषा की शक्ति है। यह शक्ति परम्परा के अनुपालन से नहीं अपितु उसके प्रति विद्रोह का भाव मुखर करने से उत्पन्नी है। यह विद्रोह कहीं एक जगह नहीं अपितु वह गहरे पैठी मानसिकता की देन है। और

यह देन अंतर्विरोधों की उपज है। आचार्य शुक्ल अंतर्विरोधों का मूल गुण विरुद्धों का सामंजस्य स्वीकार करते हैं। 'तराना-ए-हिन्दी' के गायक, अपने को 'हिन्दी' कहनेवाले और अपने वतन को 'हिन्दुस्तान' माननेवाले प्रसिद्ध शायर और मनीषी इकबाल कालक्रम में पाकिस्तान की योजना के आरंभिक प्रस्तावकों में हुए। यह इतिहास के अत्यंत रोचक और करुण अंतर्विरोधों में से एक है। इसके बावजूद भी न तो हिन्दी और न ही हिन्दुस्तान की हस्ती मिटी। निश्चय ही यह महत्वपूर्ण और विचारणीय पहलू है। और यह पहलू ही हिन्दू मानसिकता की वह शक्ति है जो अनेक अंतर्विरोधों को अपने में समाए है। मेरी अपनी दृष्टि से हिन्दू मानसिकता ने यह शक्ति इसलिए अर्जित की कि वह किसी धर्म ग्रंथ विशेष और व्यक्तित्व विशेष पर अनिवार्यतः आस्था रखने का आदेश नहीं देता। भारत, उस भारत में जिसमें हिन्दू रहते हैं कभी वैदिक धर्म का बोलबाला था और कभी बौद्ध का, कभी जैन का, कभी योगियों और सिद्धों की आस्था-परम्परा ने जन्म लिया। और आगे चलकर मुसलमान धर्म के आघातों से वह पीड़ित हुआ पर इन सबके चपेटे में पड़कर भी वह चरित्र विशेष के प्रति आस्थावान नहीं हुआ और सबसे बड़ी विशेषता उसकी यह कि वह इन झंझावातों को सहकर उनमें से अच्छाई को ग्रहणकर अपने स्वरूप को बनाए रखने में सफल रहा। इसका कारण यह भी हो सकता है कि यहाँ धर्म संस्थागत नहीं बना वरन् वह एक आंतरिक जिजीविषा का रूप हो गया, वह एक ऐसी हस्ती बना है, निरंतर बनता रहा है जो यूनान, मिश्र और रोम के मिटने पर भी बराबर बना रहता है।

इस धर्म व्यवस्था के पीछे सूक्ष्म अद्वैत दर्शन की भावना और जड़ी-भूत जाति-व्यवस्था का सहअस्तित्व कारगर है, हिन्दू मानस के अंतर्विरोधों के मूल में यही दो छोर खाद-पानी का कार्य कर रहे हैं। सम्पूर्ण यथार्थ एक ब्रह्म सत्ता की ही विविध रूपा अभिव्यक्ति है, यह विशिष्टता अन्यत्र अनुपलब्ध है। और जाति प्रथा का स्थूल रूप जन्म पर आधारित जाति के मूल अर्थ में हो ऐसा कहीं नहीं मिलेगा। जातियों का जाल और वर्गीकरण इतना पूर्ण और व्यवस्थित है कि छंदशास्त्र का प्रस्तार याद आ जाता है। हिन्दू समाज में नीचे से नीचे समझी जानेवाली जाति भी अपने से नीची और एक जाति ढूँढ़ लेती है। यह व्यंग्य नहीं व्यावहारिक सच है। एकत्व का रूप परम अद्वैत में और विविधता की बहार जाति प्रथा में, ये दोनों छोर हिन्दू व्यवस्था में बड़े इतमिनान के साथ समाए हुए हैं। अपने चिंतन में ही नहीं अपनी रचना प्रक्रिया में भी हिन्दू मानस इसी प्रकार के छोरों को दर्शाता है। रामायण और महाभारत अपनी परिकल्पना में एक दूसरे के विरोधी हैं। एक आदर्श की चरम गाथा है तो दूसरा यथार्थ का नग्न रूप। दोनों का ढाँचा भाइयों के संबंध पर आधारित है और इन रचनाओं में हिन्दू मानस के चरम अंतर्विरोधों का रूप धर्म, दर्शन और जातीयता का पूरा विस्तार समा गया है। हिन्दू मानस के अनुसार धर्म वह है जो इन अंतर्विरोधों को धारण करने की सामर्थ्य रखता हो। वह उल्लेख तब है जब उससे जीवन के अंतर्विरोधों को धारण करने की अपेक्षा रखी जाए। अपनी इसी सामर्थ्य के कारण हिन्दू मानस ने अनेक धर्मों के आक्रमण-प्रत्याक्रमण सहे। चाहे बौद्ध हो या जैन या इस्लाम हो अथवा ईसाई, वह सभी को अपने में आत्मसात करता रहा। उसकी अच्छाइयों को ग्रहण कर अपना रूप युगानुकूल परिवर्तित करता रहा। फलस्वरूप इन विरोधों और उनकी समरसता के बीच से इस

देश के दार्शनिकों और मनीषियों ने जीवन की एक समग्र, समृद्ध और सम्पूर्ण प्रस्तावना प्रस्तुत करनी चाही। यही हिन्दू संस्कृति और धर्म का मूल चरित्र है।

आठवीं शती के अंत से हिन्दी साहित्य के बीज अंकुरित दिखाई देते हैं। और इस अंकुरण के साथ-साथ अभूतपूर्व राजनीतिक और धार्मिक घटनाएं भी घटती हैं। हिन्दी साहित्य के शुरूआत के पूर्व हिन्दू धर्म ग्रन्थ, मनु और याज्ञवल्क्य की स्मृतियाँ, सूर्यादि पाँचों सिद्धान्त ग्रन्थ, चरक और सुश्रुत की संहिताएं, न्यायादि छहों दर्शन, सूत्र, प्रसिद्ध पुराण, रामायण, महाभारत के वर्तमान रूप, नाट्यशास्त्र, पतंजलि का महाभाष्य आदि की रचना ईसवी सन् के दो-ढाई सौ वर्ष इधर-उधर की मानी जाती है, पर इन्हें अप्रामाणिक तो नहीं माना जाता। निश्चय ही इनका प्रचार-प्रसार काफी लम्बे अर्से तक होता रहा है। इन्हीं का फल है कि अश्वघोष, कालिदास, वराह मिहिर, कुमारिल, शंकर आदि संस्कृत के अनमोल रत्नों ने भारतीय विचारधारा को अभिनव समृद्धि से समृद्ध किया। यह समृद्धि हिन्दी साहित्य को प्रमाणित किए बिना कैसे रह सकती है। सातवीं शती तक बौद्ध धर्म का प्राबल्य था, पर सभी जनता बौद्ध धर्मानुलंबी नहीं थी। सत्य तो यह है कि लोक के सामाजिक जीवन पर इसका प्रभुत्व कम था। वे बौद्ध संन्यासियों का सम्मान अवश्य करते थे और तदनु रूप अपने लोक-परलोक के विषय में सोचते थे। आज भी भारतीय गृहस्थ परस्पर विरोधी मतों के माननेवाले साधुओं की तथा भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय के भिन्न-भिन्न प्रकृति के देवताओं की पूजा करता है। आज भी वह मन्त के लिए मंदिर भी जाता है और मजार पर भी जाता है। मठों के संन्यासियों से दुआ लेता है, मौलवियों के तंत्र-मंत्र का प्रयोग करता है। ज्योतिषियों के बताए उपाय भी करता है। शंकराचार्य के तत्त्ववाद की पृष्ठभूमि में बौद्ध तत्त्ववाद अपना रूप बदल कर रह गया। बौद्ध मठों ने शैव मठों का रूप लिया और आज भी इन मठों के महंतों की पूजा होती है। इसी काल में बौद्ध धर्म की तांत्रिक साधना, मारण, मोहन, वशीकरण और उच्चाटन जैसी रहस्यपूर्ण विधाओं का भी जनसामान्य में प्रभाव फैला। मुसलमानी आक्रमण से समान रूप से त्रस्त पौराणिक धर्म इसलिए बच गया कि उसका संबंध उन दिनों के समाज से था और बौद्ध धर्म इसलिए नष्ट हुआ कि उसका संबंध बिहारों से था। नवीं और दशवीं शती में शैव और बौद्ध साधना के सम्मिश्रण से नाथ-पंथी योगियों के सम्प्रदाय का अभ्युदय हुआ। यह सम्प्रदाय कालक्रम में हिन्दी भाषी जन-समुदाय को बहुत दूर तक प्रभावित कर सका था। कबीर, सूर, जायसी की रचनाएं इसकी तत्पुगीन शक्ति-सामर्थ्य और प्रभाव को आत्मसात किए हुए हैं।

“सन् 1324 में तिरहुत का एक राजा मुसलमानों से खदेड़ा जाकर नेपाल पहुँचा, वह अपने साथ अनेक पंडितों और ग्रंथों को भी लेता गया। इसके द्वारा ब्राह्मण धर्म का जो बीजारोपण हुआ वह आगे चलकर विकाशशील सिद्ध हुआ। परवर्ती राजा जयस्थिति ने इन्हीं ब्राह्मणों की सहायता से समाज का पुनः संगठन किया।”<sup>2</sup> नेपाल के गोरखा लोगों ने अपने प्राचीन धर्म को फिर से ग्रहण किया, किन्तु नेवारी बौद्ध ही रहे। पर नेपाल में बौद्ध और हिन्दू धर्म में शत्रु-दृष्टि नहीं रही। वहाँ बुद्ध शिव ही माने गये। नेपाली बौद्धों का स्वयं का पुराण पशुपतिनाथ की पूजा को ही बुद्ध की पूजा मानता है। संभवतः काशी और मगध के प्रांतों में भी अंतिम दिनों में बौद्ध और पौराणिक धर्मों का पारस्परिक संबंध रहा है।

बौद्ध धर्म की एक शाखा महायान ईसवी सन् के आरम्भ से ही लोकमत की प्रधानता स्वीकार करती गई। यह अवस्था सभी सम्प्रदायों, शास्त्रों और मतों की हुई और ज्ञानी, पंडित अपने ऊँचे आसन से उतरकर अपनी असली प्रतिष्ठाभूमि-लोकमत की ओर आने लगे। यह परिणति अत्यंत स्वाभाविक रही और इसी स्वाभाविक परिणति का मूर्त प्रतीक हिन्दी साहित्य है। एक बात और, महायान सामाजिक आचार-विचारों का मेरुदण्ड नहीं है। मेरुदण्ड तो स्मार्त विचार ही है। यह अलग बात है कि महायान की कतिपय मान्यताएँ, यथा - सर्वकल्याण भावना, सत्कर्म, जगत की नश्वरता, कर्मकाण्ड की बहुलता, मंत्र-तंत्र में विश्वास, मानवीयता, सहजता और समन्वय-मूलकता, करुणा आदि उत्तर भारत के हिन्दू धर्म में रह गयीं, पर ध्यान से देखा जाय तो ये तत्व पौराणिक धर्मों में भी विद्यमान रहे। यहाँ तक कि “सूर और तुलसी की अवतारवाद की भावना, प्राचीन-शास्त्रानुमोदित होते हुए भी महायानियों की देन है। इसीलिए ग्रियर्सन, केनेडी को उसमें ईसाईयत का असर दिखाई देता है।”<sup>13</sup>

यद्यपि यह सत्य है कि प्रारम्भ में संस्कृत के प्रभाव के कारण इस काल के पंडित प्रत्यक्ष जीवन या लोक-जीवन से दूर हट रहे थे जबकि बौद्ध धर्म लोक-जीवन में घुल-मिलकर लोकधर्म का रूप ग्रहण कर रहा था। पर यह अलगाव उस समय समाप्त हो गया जब बौद्ध धर्म हास की स्थिति में आ गया। अनेक बौद्ध धर्मानुयायी ब्राह्मण धर्म में आ गए। वे अपने साथ व्रत, पूजा, पार्वण आदि भी ले आए। इस प्रकार पंडित-अनुमोदित धर्म और शास्त्र भी लोक के पक्षधर बने।

फलस्वरूप, निश्चय ही लोकमत की यह प्रधानता उस संस्कृत भाषा में पूरी तरह अभिव्यक्त नहीं हो सकती थी जो जन-साधारण या लोक से अलग थी और जिसे अधिकांश लोग समझ नहीं सकते थे। तद्युगीन लोक को अभिव्यक्त करने के लिए उसी लोक की भाषा की आवश्यकता थी। भाषा के बदलाव की यह प्रक्रिया पहले-पहल नहीं थी बल्कि इसके पहले स्वयं संस्कृत में - वैदिक और लौकिक संस्कृत नाम से - बदलाव आ चुका था। संस्कृत को छोड़कर पालि भाषा भी विकसित हो चुकी थी और इसी क्रम में प्राकृत का अस्तित्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इस प्रक्रिया का अगला कदम अपभ्रंश है। वस्तुतः काव्य, सामाजिक संवेदना का वैयक्तिक संवेदना में तिरोधान है। यह वैयक्तिक संवेदना - रचनाकार विशेष की - एक विशेष की, उस समाज की विशिष्ट भाषा की, जिसकी संवेदना को अभिव्यक्ति प्रदान करनी है - भाषा की अनुवर्तिनी होती है। वह उसी की भाषा में अभिव्यक्त हो सकती है। इसलिए हर काल का रचनाकार विशेषकर परिवर्तनशील युग का रचनाकार उस युग, उस समाज की भाषा का संधान करता है। गोस्वामी तुलसीदास के संबंध में प्रसिद्ध एक कथा हमारी बात और स्पष्ट कर जाएगी। गोस्वामीजी पहले संस्कृत में रचना करते थे, दिन भर जो लिखते थे रात को सब साफ हो जाता था सवेरे केवल कोरे पन्ने बचते थे। तुलसीदास परेशान। जब बहुत परेशान हो गए तो उन्होंने अपने देवताओं का स्मरण किया। एक दिन स्वप्न में उन्हें शंकर का साक्षात् हुआ। उन्होंने बताया कि संस्कृत में नहीं भाषा में लिखो। तब यह अक्षुण्ण होगा। भाषा में लिखा मानस आज तक हमारे-आपके बीच विद्यमान है और इसे जन-साधारण से लेकर विद्वत समाज तक ने अपने गले का कण्ठहार बनाया। इस कथा से एक आशय निकलता है कि लोकप्रियता प्राप्ति के लिए

रचनाकार का यह दायित्व होता है कि वह लोकभाषा का संधान करे। उपर्युक्त परिस्थितियों, सामाजिक और राजनैतिक स्थितियों में, जब काव्यवस्तु जन-साधारण की ओर उन्मुख थी, तब जनसाधारण की भाषा के संधान की अपेक्षा थी। स्वयंभू और पुष्पदंत अपनी भाषा को देशी भाषा घोषित करते हैं। विद्याधर लोकभाषा के पंडित हैं और दामोदर पंडित लोकभाषा से परिचय कराने के लिए उक्ति व्यक्ति प्रकरण की रचना करते हैं। इन रचनाकारों के साथ विद्यापति के उद्घोष को भी रखकर परखा जाय तो देशी और लोकभाषा का स्वरूप स्पष्ट हो जाएगा। हिन्दी का संधान यहीं इसी संदर्भ में हुआ। उस हिन्दी का जो जनसाधारण की कथा की अभिव्यक्ति का सामर्थ्य रखती थी, उस हिन्दी को आप चाहें तो अपभ्रंश में भी देख सकते हैं। वैसे राहुलजी तो अपभ्रंश को हिन्दी से भी कहीं अधिक हिन्दी भाषा मानते हैं और द्विवेदीजी अपभ्रंश साहित्य को हिन्दी का मूलरूप और प्राणधारा स्वीकार करते हैं। चाहे तो अवहट्ट को उसका पुराना रूप मान सकते हैं और न माने तो कबीर से उसे स्वीकार करना ही पड़ेगा। पर सरहपा, कणहपा, मुंज, हेमचन्द्र और अब्दुल रहमान के निम्नलिखित अंश क्या हिन्दी की डुगडुगी नहीं पीट रहे हैं -

जहि मण पवण न संचरइ।  
रवि शशि नाह पवेस।  
तहि वढ़ चित्त विसाम करु  
सरहें कहिअ उएस।

- सरहपा ( 769 ई. )

x x x

जिमि लोण विलिज्जइ पाणिण्हि  
तिमि घरणी लइ चित्त  
समरस जाई तक्खणे  
जइ पुणु ते सम णित्त।

- कणहपा ( 820 ई. )

x x x

बांह विछोइवि जाहि तुहुँ हउँ तेवइँ को दोसु।  
हिअयट्ठउ जइ णीसरइ, जाणउँ मुंज सरोसु॥

- मुंज

x x x

जा मति पच्छइ सम्पजइ, सा मति पहिली होइ।  
मुंज भणइ मुणालवइ, विघन न वेढ़इ कोइ॥

- मुंज

x x x

भल्ला हुआ जो मारिआ, वहिणि म्हारा कंतु।  
लज्जेज्जन्तु वयं सियहु, जइ भग्गु घरु एंतु॥

- हेमचन्द्र ( 12वीं शती )

x x x

संदेसडउ सवित्थरउ पर मइ कहण ण जाइ।  
जो काणंगुलि मूँदडउ, सो वाहडी समाइ॥

- अब्दुल रहमान ( तेरहवीं शती का उत्तरार्ध )

रामायण और महाभारत के उदाहरण द्वारा मैंने पहले ही कहा है कि भारतीय साहित्य विरुद्धों का सामंजस्य है। हिन्दी भाषा इससे अछूती नहीं है। वस्तुतः हिन्दी भाषा की प्रकृति इसी चरित्र से जुड़ी है। भाषाओं के लम्बे इतिहास में ऐसे बहुरूपी भाषा का अस्तित्व और कहीं नहीं मिलता। अनेक जनपद में व्यवहृत अट्टारह बोलियों के वैविध्य को, जिनमें से कई व्याकरणिक दृष्टि से एक-दूसरे की विरोधी विशेषताओं से युक्त कही जा सकती हैं, हिन्दी भाषा बड़े सहज भाव से धारण करती है। इसीलिए ग्रियर्सन में जगह-जगह वैचारिक द्वैत की भावना है - “गंगा के समस्त कांठे में बंगाल और पंजाब के बीच अपनी अनेक स्थानीय बोलियों सहित केवल एक-मात्र प्रचलित भाषा हिन्दी ही है।” . . . “इस क्षेत्र के लोग द्विभाषी हैं अतएव व्यवहार में उन्हें किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती और ये लोग नहीं चाहते कि शासन-कार्य के लिए अनेक भाषाएं स्वीकार कर कठिनाई उत्पन्न की जाय।” 1855 में विलियम केरे ने कहा - “इस बोली से मैं सारे हिन्दुस्तान को समझा सकूँगा।” बाइबिल के अनुवादों के सिलसिले में केरे ने हिन्दी क्षेत्र की बोलियों का गहराई के साथ परीक्षण किया था। ग्रियर्सन यह भी स्वीकार करते हैं कि हिन्दी क्षेत्र की बोलियों की विशेषताएं सारी आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की विशेषताओं के समतुल्य हैं और इन हिन्दी बोलियों की केन्द्रीय भाषा मध्यप्रदेश की भाषा रही है, हमेशा रही है। इन बोलियों को एक नाम देने का पहले भी प्रयास हुआ - कभी हिन्दी, कभी हिंदवी और कभी हिंदुई। किन्तु इनमें हिन्दी ही नाम चला, आज भी चल रहा है। कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, मीरा, आलम, भारतेन्दु, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, निराला, अज्ञेय आदि समान रूप से हिन्दी के कवि हैं। इनकी रचनाओं का इतिहास हिन्दी संवेदना का इतिहास है। बिहारी बोलियों का व्याकरण भले ही बंगला जैसा हो, पर इससे बिहार की भाषिक स्थिति स्पष्ट नहीं होती। बल्कि इस दृष्टि से भी विचार करना अनावश्यक है कि वहाँ के निवासी अपनी काव्यभाषा अर्थात् अपनी संवेदना की अभिव्यक्ति के लिए किस भाषा का चयन करते हैं। और उनकी यह भाषा कभी पुरानी हिन्दी (विद्यापति) रही और कभी ब्रज अथवा अवधी और आज खड़ी बोली है। इस दृष्टि से भी भाषा-निर्णय अपेक्षित है कि उनकी जातीय पाठ्य-रचना कौन-सी है। मुझे यह कहने में संकोच नहीं कि यह रचना रामचरितमानस है, ठेठ हिन्दी का, बंगला का नहीं। अतः बिहार क्षेत्र की संवेदना हिन्दी क्षेत्र से इतर नहीं, फिर उसकी भाषा कैसे इतर होगी ?

काव्यभाषा एक ओर जनबोली से शक्ति लेती है और दूसरी ओर उसे परिष्कार देती है। हिन्दी काव्यभाषा ने समूचे बिहार की बोलियों से शक्ति को ही नहीं ग्रहण किया अपितु कथात्मक संवेदनाएं भी ग्रहण कीं। वह समूचे हिन्दी जनसमाज को परस्पर जोड़ने का कार्य करती है। इसीलिए स्वतंत्रता-आन्दोलन के नेताओं ने हिन्दी का ही सहारा लिया। समूचे क्षेत्र की काव्यभाषा का आधार हर युग में एक रहा। कभी अपभ्रंश -अवहट्ट का रूप रहा और फिर ब्रज एवं अवधी और अब फिर खड़ी बोली का।

हिन्दी साहित्य के आरम्भ पर विवाद है। पर मेरी दृष्टि में किसी साहित्य के आरम्भ की पहचान वहाँ की जा सकती है जहाँ वह धार्मिक, कर्मकाण्ड, रूढ़िवादिता और रहस्य भावना से उन्मुक्त होकर लोकसामान्य की भावभूमि पर प्रतिष्ठित हो रहा हो, लोक-संवेदना को वह अपना उपजीव्य बना रहा हो और अभिव्यक्ति का माध्यम एक नयी भाषा को बना रहा हो। इस

सीमा रेखा पर सिद्धों-नाथों का साहित्य देखा जा सकता है जो कबीर तक व्याप्त है। निश्चय ही हिन्दी साहित्य की शुरुआत आठवीं शती के आस-पास माननी चाहिए। इस काल के सिद्धों-नाथों से लेकर हिन्दी संतों तक के साहित्य में सामाजिक विद्वेष पर करारी चोट है। गोरखबानी में स्वतंत्र परसर्ग रूप भी हिन्दी के विकास की कथा कह जाते हैं। यद्यपि इसे चौदहवीं शती का माना जाता है।

आदिकालीन हिन्दी भाषा का व्याकरणिक रूप स्थिर करना कठिन है। काव्य भाषा के व्यापक स्वरूप और संवेदना की अंतर्प्रक्रिया में ही उसकी वास्तविक स्थिति समझी जा सकती है। हिन्दी के इस आरम्भिक साहित्य में धार्मिक और ऐहिक तत्व अधिक हैं। विद्यापति में ऐहिकता भी है और धर्म का स्वर भी प्रबल। रासो में वीर और शृंगार एक-दूसरे में मिलते हैं। पृथ्वीराज रासों का प्रारंभ कयमास-वध से होता है। कयमास-वध का कारण उसकी कामांधता है और स्वयं पृथ्वीराज के वध का कारण भी कामांधता है। तभी तो -

जि कछु दिअउ कयमास किअउ अप्पनउ सुपायउ।

दी न मान दिन पाइयइ।

(दिए हुए के बराबर ही दिन (जीवन) में मिलता है।)

सरहपा भी भोग में निर्वाण और काया में तीर्थ देखते हैं। पुरुष का कर्मक्षेत्र में असंयम, जीवन में कैसी विषमताएं उत्पन्न करता है। इसका ही चित्रण रामायण है और महाभारत है, पृथ्वीराज रासो का भी उपजीव्य यही है। बीसलदेव रासो में नारी के वाणी संबंधी असंयम का चित्रण है। रासो में लोकसाहित्य के तत्वों का भी समावेश है। सरहपा, कणहपा, मुंज, हेमचन्द्र, अब्दुल रहमान, विद्यापति की पदावली और कीर्तिलता, कबीर, जायसी, सूर, तुलसी में लोकजीवन की झाँकी देखी जा सकती है। यह भी सत्य है कि लोकजीवन की व्यापकता का वास्तविक प्रमाण या तो हिन्दी के आदिकाल में मिलता है या आधुनिक काल में।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि जनभाषा के रूप में हिन्दी आठवीं शताब्दी में ही साहित्य का माध्यम बन चुकी थी तथा वह अपभ्रंश के साथ-साथ अपनी भूमि पर आगे भी बढ़ने लगी थी। एक विशाल क्षेत्र की अनेक बोलियों से उसका एक सामान्य रूप विकसित हो रहा था। अनजाने ही वह इस प्रक्रिया द्वारा प्रवृत्तिगत एकता एवं सांस्कृतिक एकता की स्थापना में सक्रिय थी। संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग इसी प्रवृत्ति का परिचायक था। आचार्य शुक्ल भी स्वीकार करते हैं कि सिद्धों की भाषा देशी भाषा मिश्रित अपभ्रंश अर्थात् पुरानी हिन्दी की काव्यभाषा है। उन्होंने भरसक उसी सर्वमान्य व्यापक काव्यभाषा में लिखा जो उस समय गुजरात, राजपूताने और ब्रजमंडल से लेकर बिहार तक लिखने-पढ़ने की शिष्ट भाषा थी। पर मगध में रहने के कारण कुछ पूर्वी प्रयोग भी मिले हुए हैं और इस भाषा का प्रभाव आगे कबीर तक दिखाई देता है। कणहपा की उपदेश की भाषा पुरानी टकसाली हिन्दी (काव्यभाषा) है पर गीतों की पुरानी भाषा पुरानी बिहारी या पूरबी बोली मिश्रित है। यही भेद कबीर की साखी और रमैनी की भाषा में भी है। साखी राजस्थानी मिश्रित सधुक्कड़ी की भाषा में है पर रमैनी के पदों की भाषा में काव्य की भाषा ब्रजभाषा है, कहीं-कहीं पूरबी बोली भी है। फिलहाल यह प्रभाव क्षेत्रीय प्रधानता के कारण है और यह प्रभाव हिन्दी भाषा के विकास की कहानी भी बताता है।



सत्य तो यह है कि 'विक्रमोर्वशीय' (कालिदास) के चतुर्थ अंक में समाहित निम्नलिखित दोहा हिन्दी काव्यभाषा के प्रारम्भ को आठवीं शती के पूर्व भी खींच ले जाता है -

मई जाणिउँ मिलोउणी णिसिअरु कोइ हरेइ।  
जाव णु णवतलिसामल धाराहरु वरिसेइ॥

आचार्य द्विवेदी ने दोहा अपभ्रंश का मुख्य छन्द माना। यह छन्द जनभाषा की देन है इसलिए इसे हिन्दी का मुख्य मानना चाहिए। क्योंकि अपभ्रंश के साहित्यिक भाषा बन जाने के साथ-साथ उसके समानांतर जनभाषा के रूप में हिन्दी भाषा का ही विकास हुआ। इसीलिए आदिकालीन हिन्दी साहित्य में दोहा-छन्द हिन्दी भाषा का सबसे प्रबल माध्यम रहा है। स्वच्छन्द अनुभूतियों के चित्रण के लिए अधिकांश हिन्दी कवियों ने इसी छन्द को चुना। इस छन्द की परम्परा भक्तिकाल और रीतिकाल से होती हुई आधुनिक काल तक चली आयी है। तुक मिलाने की पद्धति का जन्मदाता भी यही छन्द विशेष है। भले ही यह अपभ्रंश की प्रवृत्ति रही हो, पर जनभाषा की वस्तु होने के कारण हिन्दी में भी इसे स्थान मिला। अपभ्रंश के अरिल्ल छन्द के स्थान पर हिन्दी में चौपाई का प्रयोग बढ़ा। जायसी और तुलसी ने इस संबंध में आदि काल का ऋण स्वीकार किया है। वस्तुतः यह कथाकाव्य का छन्द है। चौपाई के साथ दोहा रखकर कडवक बनाने की सिद्धों की प्रथा को भी इन कवियों ने उसी रूप में स्वीकार किया।

आदिकालीन साहित्य की भाषा कठिनता से सरलता की ओर जाती हुई भी एक व्यापक रूप ग्रहण करने की ओर बढ़ रही थी। आदिकालीन हिन्दी का संस्कृत और संस्कृति की ओर जानेवाला व्यापक जनभाषायी स्वरूप पर्याप्त सम्प्रेषणीय था। धिसे-पिटे धार्मिक अर्थों को वहन करनेवाले शब्दों की खोज में ये कवि तल्लीन थे। तत्कालीन जीवन की भाव-भूमि से संपृक्त शब्दावली में अभिव्यंजना-शक्ति बढ़ रही थी। सिद्धों की जीवन-दृष्टि तथा स्पष्टवादिता, नाथपंथियों का हठयोग, जैनों की अहिंसा, चारणों की प्रशस्तियाँ, खुसरो की लोकानुरंजनता - सबको एकसाथ अभिव्यक्त करने का सामर्थ्य जुटाने में तल्लीन हिन्दी भाषा न अलंकार की परवाह करती थी न लक्षणा-व्यंजना आदि की। इसीलिए इस काल की भाषा में रूपभेद होने पर भी अभेद है और सम्प्रेषण क्षमता में भी बेजोड़ है। कोई अलंकार ऐसा नहीं जो उसमें न फबता हो, कोई भी छन्द ऐसा नहीं जो उसमें न जमता हो। इसमें जीवन के विविध पक्षों का स्वरूप सजीव हो उठा है।

निष्कर्षतः आदिकालीन हिन्दी साहित्य में लोकजीवन का संस्पर्श है। लोककथा और ग्राम-गीतों की मधुरता। लोकजातियों की स्वच्छन्दता और उन्मुक्तता है। धार्मिक जीवन की उदात्तता के साथ-साथ जीवन के सरस प्रवाह की एकतानता है। स्वयंभू, पुष्पदंत के राम, सीता, रावण, विभीषण मंदोदरी, कृष्ण; धनपाल के भविष्यदत्त, सरूपा, बंधुदत्त आदि चरित्र अलौकिक नहीं लौकिक हैं। वे हमारे जीवन के सथ तादात्म्य स्थापित करते हैं। और यह तादात्म्य ही संवेदना और सम्प्रेषण की एकतानता सिद्ध करता है। जहाँ शब्द ही काव्य बन गया है और काव्य शब्द।

“चौदहवीं शती तक देशी भाषा के साहित्य पर अपभ्रंश भाषा के उस रूप का प्राधान्य रहा है, जिसमें तद्भव शब्दों का ही एकमात्र राज्य था। इस बीच धीरे-धीरे तत्सम-बहुल रूप प्रकट होने लगा था। नवीं-दशवीं शताब्दी से ही बोलचाल की भाषा में तत्सम शब्दों के प्रवेश का प्रमाण मिलने लगता है और चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से तो तत्सम शब्द निश्चित रूप से अधिक मात्रा में व्यवहृत होने लगे। पं. दामोदर शर्मा (12वीं शती) के युक्तिव्यक्तिप्रकरण में तत्सम शब्दों का बाहुल्य है। मजेदार बात यह है कि दामोदर शर्मा ने यह रचना भाषा से परिचय कराने के उद्देश्य से की। ज्योतिरीश्वर के वर्णरत्नाकर और विद्यापति की कीर्तिलता में भी तत्सम शब्दों के निश्चित प्रयोग का प्रमाण मिलता है और कबीर, सूर, तुलसी की भाषा भी तत्सम शब्दों से भरी पड़ी है। यद्यपि उपर्युक्त तीनों रचनाकारों के पूर्व भारत - विशेषकर हिन्दी भाषी क्षेत्र मुस्लिम आक्रमण की विडम्बना को भोग चुका था, पर निश्चय ही संस्कृत की तत्सम शब्दावली मुसलमानों की देन तो नहीं ही है। शायद प्रतिक्रियास्वरूप यह प्रक्रिया बढ़ी और हिन्दी भाषा तत्सममय हो उठी। यह तत्सम-प्रेम केवल कुछ इने-गिने लोगों का प्रेम नहीं था अपतु लोक-मानस का प्रेम था, जिसकी संवेदना को ये रचनाकार आगे लेकर बढ़े। सूर और तुलसी में सामाजिक विडम्बना के प्रति आक्रोश तो कम है, पर तुलसी ने सामाजिक असमानता को दिखाने का प्रयास किया। इनसे भी पहले आगे बढ़कर कबीर ने विद्रोह का झंडा फहराया। यह विद्रोह और सामंजस्य का प्रयास, समाज की यथार्थ स्थिति का चित्रांकन निर्गुण मतवादी संतों - कबीर, दादू, रैदास, नानक की वाणियों में मुखर हुआ। यह युगीन चेतना को भाषा देने का सफल प्रयास है। भले ही हम उसका संबंध बौद्ध के अंतिम सिद्धों और नाथपंथी योगियों से जोड़ें। यह सत्य है कि वे ही पद, वे राग-रागनियाँ, वे ही दोहे, वे ही चौपाइयाँ कबीर आदि ने व्यवहृत कीं जो उक्त मत के माननेवाले उनके पूर्ववर्ती संतों ने की थीं। क्या भाव, क्या भाषा, क्या अलंकार, क्या छंद, क्या पारिभाषिक शब्द, सर्वत्र ही वे कबीर के मार्गदर्शक हैं। कबीर की ही भाँति ये साधक नाना मतों का खण्डन करते थे, सहज और शून्य में समाधि लगाने को कहते थे, गुरु के प्रति भक्ति करने का उपदेश देते थे कबीर और दादू के अनेक दोहे क्रमशः सरहपाद और नाथ योगियों के सीधे अनुकरण प्रतीत होते हैं। यहाँ में अनुकरण की बात नहीं कर रहा हूँ अपितु संवेदना के विकास और एकतानता की बात कर रहा हूँ। तत्सम के साथ-साथ देशज और तद्भव रूप मिलकर एक नई भाषा को जन्म दे रहे थे। अब्दुल रहमान संवेदना के धरातल पर तो इनमें अग्रगणी हैं, शिल्प और भाषा की दृष्टि से भी उनका योगदान अविस्मरणीय है।

बारहवीं शताब्दी के आसपास अब्दुल रहमान का 'संदेश रासक' हिन्दी काव्यभाषा जगत में एक क्रांति लेकर उपस्थित होता है। राहुलजी के अनुसार यह पहले मुसलमान कवि की हिन्दी रचना है। समूची रचना में मुसलमान कवि का इस्लाम धर्म के प्रति कोई विशेष आग्रह नजर नहीं आता। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि हिन्दी काव्य परंपरा के परम ज्ञाता हैं। उसने संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश की काव्य-रूढ़ियों, काव्य-परिपाटियों का गहन अध्ययन तो किया ही था, वह देशी भाषा का माहिर प्रयोक्ता भी रहा है। संदेश रासक का दोहा नवीनता युक्त तो है ही, मधुर शब्दों के चयन और चित्रों के सूक्ष्म से सूक्ष्म रूपायन में समर्थ भी है। छंदों की विविधता, वस्तु की अभिव्यक्ति शैली, विशेषकर नायिका का वाग्वैदग्ध हमें सूरदास की सामर्थ्य की याद

दिलाता है। मार्मिकता, संयम और सहृदयता भी इस रचना की शक्ति है। परंपरागत होते हुए भी उनके उपमान हृदयस्पर्शी हैं। और इन सबसे महत्वपूर्ण है रचनाकार की स्वाभाविकता जो प्रभाव साम्य उपमानों की खोज में सक्रिय है।

अब्दुल रहमान अपनी कविता के लक्ष्य को पहले ही स्पष्ट कर देते हैं -

विरहिणिमदूरद्ध उ सुणहु विसुद्धडउ, रसियह रससंजीवयरो ॥ 22 ॥

अर्थात् संदेश रासक अनुरागियों का रतिगृह, कामियों का मन हरनेवाला, मदन के माहात्म्य को प्रकाशित करनेवाला, विरहिणियों के लिए मकरध्वज और रसिकों के लिए विशुद्ध रस-संजीवक है। इसे सुनो - और संदेशरासक की रचनाप्रक्रिया स्पष्ट करते हुए कवि कहता है -

अइणेहिण भासिउ रइमइवासिउ सवण कुलियह अभियसरो।

लइ लिहइ वियक्खणु अत्थह लक्खणु सुरइसंगि जु विअड्ड नरो ॥ 23 ॥

अर्थात् संदेशरासक की रचना अति स्नेहपूर्वक की गयी है, यह प्रेम और शृंगार की भावनाओं से परिपूर्ण है कर्णपुटों में अमृत सरोवर या अमृतमय स्वर की भांति सुखद लगनेवाला है। इसके अर्थ और लक्षणों को वही विचक्षण अपने भाव में देख पाता है, हृदयंगम कर पाता है जो सूक्ष्म सुरति-संग में विदग्ध है।

और यह वियोग, साधारण वियोग नहीं, इसका एक नया उपमान देखें -

पापी तणइ विओइ कादमि हि फाटइ हियउ ॥ 70 ॥

(पानी से वियोग होने पर कीचड़ का हृदय फट जाता है)

और तो और रचनाकार गाँव-गली की वीथियों में, सरोवर में खिले नलिनी के सौंदर्य के विपरीत बाड़ों में लगी हुई तूँबी या लौकी के फूलों में काव्य की खोज करता है -

ता किं वाडि विलग्गा मा विअसउ तुंविणी कहवि ॥

स्पष्टतः रचनाकार एक तरफ मनुष्य के उस भाव - शृंगार को अपनी रचना का आधार चुनता है जो मानवता के जीवन के अंत तक जीवित रहनेवाली है। दूसरी तरफ वह इस भाव को लोक-जीवन की सहज सामान्य भाव-लहरियों के थपेड़े में रखकर सजाता-संवारता है। उसके लिए वह सारे सरो-संजाम शब्द-चयन उपमान आदि-उसी भाव-भूमि से चुनता है और उन्हें स्वाभाविक कृत्य-चित्र से भर देता है। पथिक की तीव्र गति का एक सूक्ष्म चित्र देखें -

इम मुद्धह विलंवतियह महि चलणेहि छिहंतु।

अदद्धड्डीणउ तिणि पहिउ पहि जोयउ पवहंतु ॥ 25 ॥

पथिक चल नहीं रहा, पृथ्वी छू रहा है और वह आधा उड़ता प्रतीत हो रहा है, वह हवा के समान स्वयं प्रवाहमान है, कोई भ्रम नहीं। यही नहीं पथिक की ऐसी स्थिति से प्रभावित नायिका उसे पकड़ने के लिए लपकती है और लगभग दौड़ पड़ती है। पर उसकी यह दौड़ कहीं नायिका की परिभाषा गड़बड़ा दे, इसलिए रचनाकार ने नायिका की स्वाभाविक चाल मंथरगति भी बता दी। परकाज प्रयोजन से उसकी मानसिक दशा को भी उसकी गति में हुए परिवर्तन द्वारा

उतावली को प्रस्तुत कर दिया। पर उतावली में किया गया कार्य हमें अस्त-व्यस्त कर देता है। अब्दुल रहमान की नायिका ही इससे कहाँ बच पाती -

तह मणहर चल्लंतिय चंचलरमणभरि;  
छुडवि खिसिय रसणावलि किंकिणरव पसरि॥ 26॥

और खुली करधनी को जब तक मजबूत गाँठ से बाँधे तब तक -

तुडिय ताव थूलावलि णवसरहारलय॥ 27॥

और इस स्थल पर मुक्ताओंवाली हार-लता को टूटना ही था, सोने में कितना दम, क्योंकि आशा से उन्मत्त हुए उसके पुष्ट उरोजों से उस हार को तो चोट लगनी ही थी, और इस चोट से उन्हें छिन्न-भिन्न होना ही था। और जब वह इन सबको येन-केन-प्रकारेण इकट्ठा करती है तो उसके अव्यवस्थित चाल का प्रभाव उसके नूपुरों पर पड़ता है, उनकी गति भी वही होती है। यहाँ तक तो ठीक था, किसी तरह वह उठती-पड़ती-रुकती-गिरती आगे बढ़ती है पर प्रियतम को संदेश भेजने की अभिलाषा से हृदय में उठ रहे उच्छ्वास और गति की वक्रता, तीव्रता उसके सिर पर से वस्त्र हटा देती है, भारतीय नारी सिर खोलकर कैसे आगे बढ़े, अतः वस्त्र ठीक कर पथिक के पथ का अनुसरण करती है तब तक -

फुडवि णित्त कुप्पास विलगिगय दर सिहण ॥ 28॥

रेशमी चोली ही फट गयी और स्तन दिखने लगे। पर यहाँ भी वह कहाँ रुकनेवाली थी, इसलिए उसने अपने हाथों से उसे ढक कर (जैसे - इंदीवरों ने अपने स्वर्ण कलशों का ढाँपा हो) पथिक के पास पहुँच कर करुण शब्द कहती है और पथिक कौतूहल में पड़कर न आगे बढ़ता है न पीछे लौटता है अपितु अर्द्धचक्राकार स्थिति में आगे बढ़ने के उठे हुए पैरों के साथ वह नायिका की ओर उन्मुख हो उठता है -

नेय णिअत्तउ ता सु कमद्धुवि णहु चलिउ ॥ 30॥

पथिक की इसी स्वाभाविक, उत्कंठापूर्ण सूक्ष्म स्थिति का चित्र केवल अब्दुल रहमान ही प्रस्तुत कर सकते थे। क्योंकि नायिका का अतुलनीय सौंदर्य, उसकी तात्कालिक स्थिति आदि सब कुछ पथिक को अचंभित-स्तब्ध कर देने के लिए पर्याप्त थी। ऐसी स्थिति में पथिक का ठगा-सा, आकाश में टंगा-सा रह जाना अत्यंत स्वाभाविक प्रतीत होता है। संदेशरासक के ये कुछ एक उदाहरण हैं, जिनसे रचनाकार, रचनाधर्मिता, उसकी परंपरा, उसकी कल्पना-शक्ति, उसके प्रबंध-कौशल आदि का आसानी से पता लग जाता है। पारंपरिक चयन के विपरीत वह अपने नायक और नायिका का चयन सामान्य-जन की कथा-व्यथा से कर अपनी रचना का आधार बनाता है, और इस रचना में वह अपनी समूची रचनाशक्ति झोंककर अमर हो जाता है। चाहे शब्दों का चयन हो अथवा वाक्य का संयोजन या भावों की भरमार या सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक चित्र की प्रस्तुति का मामला, सभी जगह वह बाजी मार ले जाता है। और मैं अंत में यही कहूँगा कि वह न तो रामायण, महाभारत की काव्य-परंपरा छोड़ पाता है और न ही वह युगीन चेतना को दर-किनार कर पाता है। वह युगीन चेतना से संयुक्त एक अमर-बेलि का फैलाव हमारे बीच

कर जाता है। उसके द्वारा निर्मित काव्य-मानदण्डों को छूने का साहस किसी रचनाकार को हुआ, कह नहीं सकता। क्योंकि विरह काव्य को बिना भक्ति का आश्रय लिए अश्लीलता से बचाकर उसे उच्च आसन पर बिठा पाना केवल अब्दुल रहमान के ही वश की बात रही है। और यह काव्य भी क्षणार्द्ध भर का काव्य क्योंकि -

जेम अचिंतउ कञ्जु तस सिद्धु खणन्दि महंतु

यह अंतिम पंक्ति की परिकल्पना कवि की अपनी परिकल्पना मात्र नहीं अपितु वह काव्य का अनोखा आधार है, वह सहारा है जिसके द्वारा रचनाकार विरही मन के कोने-कोने को झाँक आता है। और अंत में मैं राहुलजी के शब्दों को दुहराते हुए पुनः कहूँगा कि मेघदूत के पश्चात् भारतीय साहित्य में और हिन्दी में यह पहला अनूठा संदेश काव्य है। आप चाहें तो प्रबंधत्व का आनंद लें या चाहें तो मुक्तक का।

1. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली, भाग-3, पृष्ठ 34।
2. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली, भाग-3, पृष्ठ 38।
3. वही, पृष्ठ 38।
4. ग्रियर्सन, भारतीय भाषा का सर्वेक्षण, भूमिका, पृष्ठ 42-43।

हिन्दी विभाग  
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय  
वाराणसी

## अपभ्रंश काव्य में रहस्यवाद

— डॉ. देवकीनन्दन श्रीवास्तव

प्रत्यक्ष ससीम सत्ता के मूल में विद्यमान परोक्ष असीम परम सत्ता की विस्मयभरी जिज्ञासा, अनुरागरञ्जित खोज एवं आनन्दमयी ऐकान्तिक अनुभूति की सांकेतिक अभिव्यक्ति ही काव्य में रहस्यवाद की संज्ञा धारण करती है। प्रकृति के नाना गोचर व्यापारों के आवरण में नियति के अनेक अद्भुत आयामों के अवगुण्ठन में गुह्य रूप से झाँकती हुई सूक्ष्म एवं दिव्य शक्तियों के प्रति एक कुतूहल और आकर्षण इस रहस्यभावना की मनोवैज्ञानिक प्रेरणाभूमि है। क्षणिक एवं सान्त दृश्यों एवं तथ्यों के वैचित्र्य एवं वैविध्य के पीछे कहीं हमारी ऐन्द्रिय बोधशक्ति की क्षमताओं से परे एक शाश्वत एवं अनन्त परात्पर ऋतम्भर सत्य प्रतिष्ठित है जिसके सच्चिदानन्दमय परम स्रोत का आविर्भाव-तिरोभाव निरन्तर हो रहा है। अणु-अणु परमाणु-परमाणु के सारे स्पन्दन उसी अवाङ्मनसगोचर वैश्व और साथ ही विश्वातीत परम की चिद्विलासमयी लीला के स्फुरण हैं। इस अतीन्द्रिय भावलोक के परम व्योम में संचरण की असामान्य साधना के द्वारा ही उस विराट सत्य का साक्षात्कार सम्भव है जिसकी अभिव्यंजना रहस्यवाद में चरितार्थ होती है।

रहस्यवाद की आधारशिला मूलतः आध्यात्मिक चेतना की भावभूमि पर प्रतिष्ठित है। यद्यपि कालान्तर में दर्शन, काव्य और साधना के क्षेत्र में चिन्तन और अनुभूति के अनेक नवीन आयाम इस दिशा में विकसित होते रहे। वैदिक ऋषियों, जैन-बौद्ध-शैव-शाक्त-सिद्धों, सन्तों-भक्तों -

विशेषतः वैष्णव उपासकों की भारतीय परम्परा, यूनानी-रोमन दार्शनिकों, ईसाई सन्तों, यूरोपीय स्वच्छन्दतावादी कलाकारों की पाश्चात्य धारा तथा ईरान-अरब के सूफी फकीरों एवं प्रेमाख्यानकारों की साझी परम्परा में रहस्यवाद के विविध रूपों और स्तरों का निर्वाह होता रहा है। प्राचीन ऋषियों से आधुनिक साधकों एवं कवियों तक की वाणी विशिष्ट देश, काल एवं प्रवृत्ति के अनुरूप रहस्यभावना से अनुप्राणित रही है। वैदिक वाङ्मय के “कस्मै देवाय हविषा विधेय?” (किस देव के प्रति हवि द्वारा आराधन करें?) जैसे मन्त्र-वाक्यों से लेकर आधुनिक कवयित्री की ‘कौन तुम मेरे हृदय में?’ जैसे प्रगीतात्मक उद्गारों तक में रहस्यवाद का भावात्मक स्वर मुखर रहा है।

रहस्यवाद की मूल चेतना आध्यात्मिक रही है और उसकी प्रमुख भावना रागात्मक। उसका चरम लक्ष्य परम सत्ता से तादात्म्य रहा है और उसका सहज माध्यम हृदय का प्रेमतत्त्व। रहस्यवाद का विकास दर्शन, साधना और काव्य के विविध स्तरों पर बहुमुखी धाराओं में प्रवाहित हुआ है पर उसके दो रूप भारतीय वाङ्मय में प्रबल रहे हैं - (1) साधनात्मक रहस्यवाद और (2) भावनात्मक रहस्यवाद। प्रथम की प्रवृत्ति ज्ञानपरक अध्यात्म-साधना की गूढ़ एवं अतीन्द्रिय सम्बोधि में प्रतिष्ठित रही है और दूसरे रूप की संचरणभूमि मुख्यतः प्रेमपरक भक्तिभावना की सरस एवं सौन्दर्यमय साक्षात्कारमयी अनुभूति में रमती रही है। अपभ्रंश काव्य में अभिव्यक्त रहस्यवाद की धारा मूलतः साधनात्मक है जिसमें गुह्य एवं सूक्ष्म संबोधिपरक संसिद्धियों का सांकेतिक उद्घाटन हुआ है। भावनात्मक रहस्यवाद का स्वरूप विशेषतः वैष्णव सन्तों-भक्तों, सूफी प्रेमाख्यानकारों तथा स्वच्छन्द प्रेम के मर्मी गायकों की वाणियों में उजागर हुआ है। अपभ्रंश काव्यधारा के अधिकांश कवि नैरात्म्यवादी जैन साधु, बौद्ध सिद्ध एवं शाक्त तन्त्र-साधना से प्रभावित रहे हैं अतः उनमें भावनात्मक रहस्यवाद का स्वर नगण्य रहा।

अपभ्रंश काव्य में रहस्यवाद की अभिव्यक्ति की मूल प्रेरणा जैन मुनियों की शान्त रसमयी ध्यान-दशा तथा बौद्ध सिद्धों की अनूठी मादनमयी ‘महासुखानुभूति’ से अनुप्राणित है। जैन अपभ्रंश काव्य में रहस्यवाद का स्वर अधिकांशतः बोधपरक रहा है और बौद्ध सिद्धों की वाणियों में सहजानन्दपरक जिसकी अनुभूति अनेक अटपटे बिम्बों एवं प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यंजित हुई है। इसीलिए अपभ्रंश के जैन कवियों की रहस्यभावना में आध्यात्मिक सन्देश की प्रवृत्ति रही है और बौद्ध सिद्ध कवियों के रहस्यवाद में लोकोत्तर ऐकान्तिक सहजानन्दानुभूति के उद्गम उन्मेष की।

अपभ्रंश की रहस्यवादी काव्यधारा की एक मौलिक विशेषता यह रही है कि उसमें सन्तों, सूफियों एवं वैष्णवों के रहस्यवाद में व्याप्त प्रेम-विरह-वेदना की छाप नहीं है। लोक के प्रति विराग एवं उदासीनता का स्वर भी उसमें मुखर नहीं। एक प्रकार के सामरस्य की सहजानुभूति उनकी वाणी में गूँजती रही है जिसमें आर्त वियोगी की पुकार नहीं वरन् सहजयोगी की फक्कड़पनभरी ‘मस्ती का आलम’ विद्यमान है। जैन कवियों की सन्तुलित अनासक्ति-प्रवृत्ति के कारण उनमें इस प्रकार की मस्ती की प्रगाढ़ता विरल एवं नगण्य है। अवाङ्मनसगोचर परमप्रज्ञामयी महासुखानुभूति के असीम व्योम में संचरण करनेवाले बौद्ध सिद्धों की यह अद्भुत

आत्मविश्वासमयी और सम्मादनमयी मधुमती भावभूमि ने ही अनेक परवर्ती निर्गुणिया सन्तों की तीव्र आध्यात्मिक चेतना को परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष रूप में प्रेरित एवं प्रभावित किया है। अपनी रहस्यमयी अनुभूतियों को गोपनीयता एवं रमणीयता प्रदान करते हुए इन अपभ्रंश कवियों ने उन्हें अनेक अटपटे एवं आश्चर्यजनक बिम्बों एवं प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्त किया है जिससे यत्र-तत्र उनकी वाणी संश्लिष्ट एवं गूढ़ार्थपरक हो गई है।

जैन अपभ्रंश काव्यधारा में रहस्यवाद का पुट जिन कृतियों में विशेष रूप में वर्तमान है उनमें मुनि रामसिंहकृत 'पाहुड दोहा', जोइन्दु (योगीन्द्र) की 'परमात्म प्रकाश' और 'योगसार', सुप्रभाचार्य की 'वैराग्यसार' और महाणन्दि की 'आनन्दा' प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं।

'पाहुड दोहा' की रहस्यात्मक उक्तियाँ अध्यात्म चिन्तन से परिपूर्ण हैं जिनमें आत्मानुभूति की रमणीयता और चित्त की तन्मयता की मार्मिक अभिव्यंजना हुई है। कवि की दृष्टि में आत्मलीनता ही वास्तविक पूजा है -

मणु मिलियउ परमेसरहो परमेसर जि मणस्स।  
विण्ण वि समरसि हुइ रहिय, पुंज चडावउं कस्सा।।  
मूढा जोवइ देवलइं लोयहिं जाइं कियाइं।  
देह ण पिच्छइ अप्पणिय जहिं सिउ संतु ठियाइं।।

'मन परमेश्वर में मिल गया है और परमेश्वर मन में। दोनों ही समरस हो रहे हैं फिर किसकी पूजा करूँ?' मूर्ख लोग बाह्य देवालय देखते हैं पर देह-मन्दिर को नहीं पहचानते जहाँ शान्त शिव स्थित हैं।'

अन्यत्र कवि अपनी सगुण सत्ता की नारी रूप में भावना करते हुए 'निर्गुण' प्रियतम से सम्मिलन की लालसा का संकेत करता है -

हउँ सगुणी पिउ णिग्गुणउ, पिलाक्खण णी संगु।  
एकहिं अंगि वसंतयह मिलिउ ण अंगहिं अंगु।।

'जोइन्दु' का अनुभव है कि ज्ञानी के निर्मल मन में अनादि देव निवास करते हैं जैसे सरोवर में हंस लीन रहते हैं। उनकी दृष्टि में अक्षय ज्ञानमय निरंजन शिव न तो देवालय में; न शिला में, न लेप में, न चित्र में- वे तो समचित्त अर्थात् समरसता में स्थित रहते हैं -

णिय-मणि णाम्मलि णाणियहँ, णिवसइ देउ अणाइ।  
हंसा सरवरि लीणु जिम, महु एहउ पडिहाइ।।  
देउ ण देउ देउले णवि सिलएँ, णवि लिप्पइ णवि चित्ति।  
अखउ णिरंजणु णाणमउ, सिउ संठिउ सम चित्ति।।

अन्यत्र वे कहते हैं कि जो परमात्मा, परमपद, हरि-हर-ब्रह्मा-बुद्ध हैं वे ही परमप्रकाशमय विशुद्ध जिनदेव हैं, इस प्रकार जिनदेव को परम देव मानते हुए उनसे अन्य आराध्यों का तादात्म्य स्थापित किया गया है -



जो परमप्यउ परम-पउ हरि-हर-बंधुवि बुद्ध।  
परम-पयासु भणंति मुणि, सो जिण-देउ विशुद्ध।<sup>6</sup>

आत्मा और परमात्मा के ऐक्य की अनुभूति रहस्यवाद का प्राणतत्त्व रहा है, इसकी आध्यात्मिक अनुभूति की झलक कवि की निम्नलिखित उक्ति में द्रष्टव्य है -

जो परमप्या सो जि हउं, जो हंउ सो परमप्यु।  
इउ जाणे विणु जोइया; अण्णु म करहु वियप्यु॥<sup>7</sup>

सभी देवों के प्रति कवि की समान श्रद्धा है, सभी परमदेव के रूप हैं -

सो सिउ संकरु विणहु सो; सो रुद्धवि सो बुद्ध।  
सो जिणु ईसरु बंधु सो, सो अणंतु सो सिद्धु॥<sup>8</sup>

वही शिव-शंकर, वही विष्णु, वही रुद्र, वही बुद्ध, वही जिन, वही ईश्वर, वही ब्रह्म, वही अनन्त और वही सिद्ध के नाम से अभिहित है। यह समन्वय-भावना रहस्यवादी जैन मुनियों की व्यापक मनोवृत्ति की परिचायक है।

महाणंदि कहते हैं कि देह में सूक्ष्मरूप से वास करनेवाले परमात्मा को हरि, हर, ब्रह्मा, शिव भी नहीं जानते, गुरु-कृपा से ही उसका बोध सम्भव है, सहज समाधि के द्वारा ही उस परमतत्त्व की अनुभूति होती है -

जिम वइसाणर कटढ महि, कुसुमइ, परिमलु होइ।  
तिहं देहमइ वसइ जिव, आणंदा, विरला बूझइ कोइ॥<sup>9</sup>  
हरि-हर वंधु वि सिव कही, मणु बुद्धि लखिउ ण जाही।  
मध्य सरीरहे सो वसइ, आणंदा लीजहिं गुरुहिं पसाई॥<sup>10</sup>  
सो अप्या मुणि जीव तुहुं। अप्यहं करि परिहारु।  
सहज समाधि हिं जाणियइ आणंदा, जे जिय सासणि सारु॥<sup>11</sup>

इस प्रकार जैन अपभ्रंश कवियों द्वारा प्रतिपादित रहस्यवाद में सभी अन्य साधना प्रणालियों एवं मान्यताओं के प्रति उदारता है। रूढ़िबद्धता के प्रति विरोध होते हुए भी स्वर में कटुता का अभाव है। आत्मा एवं परमात्मा के ऐक्य की भावना में रमते हुए उन्होंने आध्यात्मिक आनन्द को सामरस्य एवं सहजानन्द की संज्ञा देते हुए सहज समाधि द्वारा उसे सम्भव माना है। साथ ही यत्र-तत्र आत्मा-परमात्मा में रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए प्रिया-प्रियतम के माधुर्य भाव की भी झलक विद्यमान है। देह मन्दिर में ही परमात्मा के साक्षात्कार की धारणा जैन अपभ्रंश काव्य की एक व्यापक विशेषता है जिसकी प्रेरणा अनेक परवर्ती सूफी-सन्त-भक्त कवियों की रहस्यभावना में अक्षुण्ण रही है।

बौद्ध सिद्ध कवियों की अपभ्रंश काव्यधारा में चर्चित एवं अभिव्यक्त रहस्यवाद बौद्धधर्म की महायान शाखा से सम्बन्धित वज्रयान, मंत्रयान, सहजयान तथा तान्त्रिक शाक्त-साधना से अनेक अंशों में प्रेरित एवं प्रभावित रहा है यद्यपि उनकी सहजानुभूति की तीव्रता में अपनी निजी मौलिक उद्भावनाओं की स्वच्छन्दता विद्यमान है। उनकी वाणियों में 'महासुखवाद' की

अभिव्यंजना अनेक गुह्य बिम्बों और प्रतीकों के माध्यम से मुखर हुई है। 'चर्यागीतिकोष' तथा 'दोहाकोष' में सर्वप्रथम इन बौद्ध सिद्ध कवियों की रचनाओं का संग्रह सुलभ हुआ। बौद्ध सिद्धों के रहस्यमय गीतों एवं दोहों के संग्रह-संकलन एवं अनुसंधान का श्रेय मुख्यतः महामहोपाध्याय पं. हरप्रसाद शास्त्री, डॉ. शहीदुल्ला, डॉ. प्रबोधचन्द्र बागची तथा महापण्डित राहुल सांकृत्यायन को है। राहुलजी ने 'हिन्दी काव्यधारा' के अन्तर्गत इनकी वाणी को व्यवस्थित परिचय-विवरण के साथ प्रकाशित किया। तिब्बती परम्परा के अनुसार इन वज्रयानी सिद्धों की संख्या चौरासी प्रसिद्ध है पर प्राप्त वाणियों में चौबीस सिद्धों की रचनाएँ संकलित हैं जिनमें रहस्यवाद की दृष्टि से सरहपा, शबरपा, भुसुकुपा, लुईपा, विरूपा, डोम्बिपा, दारिकपा, गुंडरीपा, कणहपा तिलोपा और शान्तिपा इत्यादि के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। अपभ्रंश के सिद्ध कवियों में सरहपा प्राचीनतम रहस्यवादी कवि के रूप में प्रतिष्ठित हैं जिनकी रचनाओं में 'महासुखवाद' और सहजानन्द के अमृतरस की अनुभूति की बड़ी मार्मिक अभिव्यंजना हुई है। सरहपा ने इस सहजानन्द को अनिर्वचनीय माना है। वह सर्वथा स्वसंवेद्य अनुभूति है -

अलिओ धम्म-महासुह पडसइ।  
लवणो जिमि पाणीहि विलिज्जइ॥<sup>12</sup>  
णउ तं बाअहि गुसु कहइ, णउ तं बुज्जइ सीस।  
सहजामिअ-रसु सअल जगु, कासु कहिज्जइ कीस॥<sup>13</sup>  
सअ-संवित्ती तत्तफ्लु, सरहापाअ भणन्ति।  
जो मण-गोअर पाविअइ, स परमत्थ ण होन्ति॥<sup>14</sup>

सरहपा की दृष्टि में संयोग द्वारा निर्वाण और महासुख की संसिद्धि सम्भव है - 'संभोग'-समाधि के माध्यम से महासुखानुभूति की यह धारणा तान्त्रिक साधना-प्रणाली से प्रेरित एवं प्रभावित है। वस्तुतः उनकी यह रहस्यात्मक अनुभूति भावाभावविलक्षण अवाङ्मनसगोचर अतीन्द्रिय संचरणभूमि पर प्रतिष्ठित है। वे चित्त की उस परममहासुख की मधुमती भूमि पर विश्राम करने का उपदेश देते हैं जहाँ मन, पवन, रवि, शशि - किसी की गति - किसी का प्रवेश नहीं है -

जहि मण पवण ण संचरइ, रवि ससि णाइ पवेस।  
तहि वढ ! चित्त विसाम करु, सरहें कहिअ उएस॥<sup>15</sup>  
आइ ण अन्त ण मज्झ णउ, णउ भव णउ णिब्बाण।  
एँहु सो परममहासुह, णउ पर णउ अप्पाण॥<sup>16</sup>

'कमल - कुलिश' (शून्य और करुणा के द्योतक) के प्रतीकों द्वारा सरहपा ने सहजानन्द की रमण-स्थिति का सुन्दर संकेत किया है -

कमल कुलिस वेवि मज्झठिउ जो सो सुरत विलास।  
को न रमइ णह तिहुअणहि कस्स ण पूरह आस॥<sup>17</sup>

भुसुकुपा सहजानन्द की स्थिति को काय और चित्त से परे बताते हुए नैरात्मा में 'हरिणी' तथा चित्त में 'हरिण' का और 'काया' में 'वन' का आरोप करते हैं। चित्त-

रूपी हरिण के प्रति नैरात्मा-रूपी हरिणी का कथन है कि तुम इस वन-काय से दूर अन्यत्र भ्रम करो -

हरिणी बोलइ सुण हरिणा तौं, ए वन छाडि होहु भान्तो।<sup>16</sup>

शबरपा की रहस्यवादी उक्तियों में ऊर्ध्व सहजानन्द के पर्वत पर उन्मत्त 'शबर' (साधक तथा 'सहज सुन्दरी' (नैरात्मा) का रम्य रूपक द्रष्टव्य है -

ऊचा ऊचा पावत तहिं बसइ सबरी बाली।  
मोरंगि पिच्छ परिहिण शबरी गीवत गुँजरि-माली।  
उमत शबरो पागल शबरो मा कर गुली-गुहाडा।  
तोहोरि णिअ घरिणी नामे सहज-सुन्दरी।<sup>17</sup>

गुंडरीपा के रहस्यवादी उद्गारों में योगिनी के प्रति उद्दाम सुरत क्रीड़ा के प्रतीक द्वारा सहज महासुख की मादक अभिव्यंजना हुई है -

तिअड्डा चाँपि जोइनि दे अँकवाली। कमल-कुलिश घौटी करहु विआली।  
जोइनि तईं विनु खनहि न जीवमि। तो मुह चुम्बि कमल-रस पीवमि।<sup>18</sup>

कणहपा के रहस्य-गीतों में सहज मार्ग की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि तथा 'महासुख' के रसात्मक अनुभूति का गहराई के साथ निरूपण हुआ है। सहज समाधि की निस्तरण समरस स्थिति का वर्णन करते हुए वे उसे शून्याशून्य विलक्षण बताते हैं -

णित्तरंग-सम सहज-रूअ सअल-कलुस-विरहिए।  
पाप-पुण्य-रहिए कुच्छ णाहि काण्ह फुट कहिए।<sup>19</sup>  
वहिण्णिवकालिया सुण्णासुण्ण पडइ।  
सुण्णासुण्ण-वेणि मज्झे रे वडइ! किम्मि ण दिडइ।<sup>20</sup>  
सहज एक्कु पर अत्थि तहि फुड काण्ह परिजाणइ।  
सत्थागम दहु पडइ सुणइ वडइ! किम्मि ण जाणइ।<sup>21</sup>

इस सहज सामरस्य की स्थिति का बोध मात्र शास्त्रों और आगमों के पठन-श्रवण द्वारा सम्भव नहीं।

अवधूती डोमिनी (नैरात्मा) के संग विवाह के सांगरूपक के द्वारा कणहपा ने जिह अनिर्वचनीय महासुख का अनूठा चित्रण किया है उससे उनके रहस्यवाद के माधुर्य की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। इस सूक्ष्म भावजगत के विवाहोत्सव में मन-पवन वाद्य-यन्त्र हो जाते हैं, डोमिन वधू के रूप में स्वीकृत होती है, दहेज में अनुत्तर धाम की प्राप्ति होती है और अहर्निह उसी के सहवास से वह महासुख में निरन्तर लीन रहता है। सामान्य लोकजीवन के क्षेत्र से गृहीत ऐसे सांगरूपकों के माध्यम से सिद्ध कवियों का अपभ्रंश काव्य अपनी रहस्योन्मुखी अभिव्यक्तियों में भी जनमानस के निकट सहज संप्रेषणीय हो उठा है -

भवणिब्बाणे पडइ माँदला। मण-पवण-वेणिण करउँ कसाला॥  
जअ जअ दुन्दुहि सइ उछलिला। काणहे डोम्बि-विवाहे चलिला॥  
डोम्बि विवाहिअ अहारिउ जाम। जउतुके किअ आणूतु धाम॥  
अहणिसि सुरअ-पसंगे जाअ। जोइणि जाले रअणि पौँहाअ॥  
डोम्बिएँ संगे जोई रत्तो। खणहँ ण छाडअ सहज-उमत्तो॥<sup>24</sup>

ऐसे सांकेतिक रूपकों की योजना में जहाँ एक ओर रागात्मक संवेदन जमाकर सहजानन्द का आभास है वहाँ दूसरी ओर निजी रहस्यात्मक अनुभूतियों को विशिष्ट मर्मज्ञ साधकों के प्रति ही उन्मीलन करने की प्रेरणा भी निहित है। यह परम्परा प्रायः सभी गुह्य तान्त्रिक साधनाओं तथा ऐकान्तिक माधुर्यभाव की उपासनाओं में प्रचलित रही है।

समग्रतः अपभ्रंश काव्यधारा में प्रवाहित रहस्यवाद अनेक आध्यात्मिक भावभूमियों पर जैन मुनियों, बौद्ध सिद्धों तथा शैव-शाक्त तान्त्रिक साधकों की शान्त रसात्मक संबोधि सहज समाधि, नैरात्म्य, सामरस्य एवं महासुख अथवा सहजानन्द की वैविध्यमयी एवं वैचित्र्यमयी अभिव्यक्ति-भंगिमाओं से समृद्ध है। प्राचीन वैदिक तथा ब्राह्म्य वाङ्मय में उद्भूत परम सत्य के परोक्ष एवं अव्यक्त स्वरूप के अनुसंधान और साक्षात्कार की चेष्टा ही कालान्तर में अपभ्रंश कवियों की अटपटी वाणियों में मुखर हुई है। अपनी विशिष्ट संसिद्धियों एवं संश्लिष्ट अभिव्यंजनाओं से अनुरञ्जित मौलिक उद्भावनाओं के कारण अपभ्रंश काव्य की रहस्यवादी धारा भारतीय वाङ्मय की अनूठी निधि है।

- |                                |                         |
|--------------------------------|-------------------------|
| 1. पाहुड दोहा सं. 43           | 13. सरहपादीय दोहा सं. 7 |
| 2. पाहुड दोहा सं. 180          | 14. सरहपादीय दोहा सं. 8 |
| 3. पाहुड दोहा सं. 100          | 15. दोहाकोष सं. 25      |
| 4-5. परमात्मप्रकाश, 2. 122/123 | 16. दोहाकोष सं. 27      |
| 6. परमात्मप्रकाश, 2. 323       | 17. दोहाकोष सं. 94      |
| 7. परमात्मप्रकाश, 2. 22        | 18. चर्यापद सं. 8       |
| 8. योगसार 2. 105               | 19. चर्यापद सं. 28      |
| 9. आणन्दा, छं. 13              | 20. चर्यागीति सं. 4     |
| 10. आणन्दा, छं. 18             | 21. दोहाकोष-10          |
| 11. आणन्दा, छं. 22             | 22. दोहाकोष-11          |
| 12. दोहाकोष 2                  | 23. दोहाकोष-12          |
|                                | 24. दोहाकोष-19          |

प्रोफेसर  
हिन्दी विभाग,  
विश्वभारती,  
शान्तिनिकेतन

## जा सेउण-देसहों अमिय-धार

पुणु दिट्टु महाणइ तुङ्गभह। करि-मयर-मच्छ-ओहर-रउह।  
 घत्ता - असहन्ते वणदव-पवण-झड दूसह-किरण-दिवायरहों।  
 णं सञ्ज्हे सुट्ठ तिसाइएण जीह पसारिय सायरहों।

x x x x

पुणु दिट्टु पवाहिणि किणहवणण। किविणत्थ-पउत्ति व महि-णिसणण।  
 पुणु इन्दणील-कण्ठिय-धरेण। दक्खविय समुहहों आयरेण।  
 पुणु सरि भीमरहि जलोह-फार। जा सेउण-देसहों अमिय-धार।  
 पुणु गोला-णइ मन्थर-पवाह। सञ्जेण पसारिय णाई वाह।

- पउमचरिउ 69.5-6

फिर उन्हें तुंगभद्रा नामक महानदी मिली, जो हाथियों, मगरमच्छ और ओहरो से अत्यन्त भयानक थी। वह ऐसी लगती थी, मानो संध्या असह्य-किरण सूर्य की सीमान्ती हवाओं को सहन नहीं कर सकी और प्यास के कारण उसने सागर की ओर अपनी जीभ फैला दी हो।

धरती पर बहती हुई काले रंग की वह नदी ऐसी लगी मानो किसी कंजूस की उक्ति हो। मानो इन्द्रनीलपर्वत ने आदरपूर्वक उसे समुद्र का रास्ता दिखाया हो। अपने जलसमूह के विस्तार के साथ वह नदी घूम रही थी, वह नदी जो सेउण देश के लिए अमृत की धारा थी। फिर उन्हें गोदावरी नदी दिखाई दी, जो ऐसी लगती थी मानो सन्ध्या ने अपनी बाँह फैला दी हो।

- अनु. डॉ. देवेन्द्रकुमार जैन

## सिद्धों के अपभ्रंश साहित्य का विवेचनात्मक अध्ययन

— डॉ. आदित्य प्रचण्डिया 'दीति'

आठवीं शती से चौदहवीं शती तक सिद्धों की दीर्घपरम्परा मिलती है। सिद्ध लोग पहले बौद्ध थे, बाद में वे नाथपंथी बनकर शैव हो गए। वस्तुतः शैव और शाक्त सिद्धों की पृथक् परम्परा बौद्ध सहजयानी और वज्रयानी सिद्ध परम्परा में से निकली और नाथ सिद्धों के नाम से प्रसिद्ध हुई। बौद्धधर्म की महायान शाखा की परिणति वज्रयान, मंत्रयान, कालचक्रयान, सहजयान, तंत्रयान आदि के रूप में हुई।<sup>1</sup> बौद्ध सिद्धाचार्यों ने वज्रयान आदि 'यानों' के सिद्धान्तों की व्याख्या के लिए अपभ्रंश को भी माध्यम बनाया।<sup>2</sup> इस सम्प्रदाय के सिद्धों की जो अपभ्रंश रचनाएँ उपलब्ध हैं जिनका विशेष अध्ययन एवं संग्रह पंडित हरप्रसाद शास्त्री<sup>3</sup>, सुनीतिकुमार चटर्जी<sup>4</sup>, डॉ. शहीदुल्ला<sup>5</sup>, डॉ. प्रबोधचंद बागची<sup>6</sup>, डॉ. सुकुमार सेन<sup>7</sup>, राहुल सांकृत्यायन<sup>8</sup> आदि सुविज्ञों ने किया।

अपभ्रंश का पूर्वी धार्मिक साहित्य सिद्ध साहित्य है। यद्यपि यह अत्यन्त अल्पमात्रा में उपलब्ध है तथापि अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है। इसका क्षेत्र प्रायः प्राचीन बंगाल, उड़ीसा तथा बिहार है। सिद्धों की संख्या चौरासी मानी गई है।<sup>9</sup> इनमें केवल दस प्रमुख हैं — (i) सरहपा (ii) शबरपा (iii) लुईपा (iv) विरूपा (v) दारिकपा (vi) घंटापा (vii) जलंधरपा (viii) डोंविपा (ix) कण्हपा (x) तिलोपा। 'पा' आदरार्थक 'पाद' का अपभ्रंश रूप है। सिद्धों में कण्हपा का नाम विशेष महत्त्व का है। आज भी नेपाल में वज्रयानी बौद्ध अपनी रहस्य पूजा के समय जो

गीत गाते हैं उनमें चौरासी सिद्धों में सर्वाधिक कण्ठपा के ही गीत मिलते हैं।<sup>10</sup> सिद्धों में सबसे प्राचीन सरहपा सिद्ध हैं। इनका नाम सरोजवज्र भी प्राप्त होता है। इनका समय विनयतोष भट्टाचार्य ने वि. संवत् 690 निश्चित किया है।<sup>11</sup> सिद्धों द्वारा प्रणीत रचनाएँ दोहे और गीत-रूपों में प्राप्त होती हैं। सिद्धों के चर्यापद कुल सैंतालीस हैं।<sup>12</sup> सिद्धों के चर्यापद पूजा के समय गाए जाते थे।<sup>13</sup> राहुल्जी ने चर्या का नेवारी में बिगड़ा हुआ रूप चचा दिया है। चचा के गीत अपभ्रंश के हैं और बोलनेवाले अथवा गानेवाले आर्येतर जाति के थे। अतः वह गीतों को न समझते थे और न उनका शुद्ध उच्चारण कर सकते थे। अस्तु उनके मुँह में पड़कर शब्दों के उच्चारण भी बदल गए।<sup>14</sup>

सिद्ध साहित्य की सबसे बड़ी प्रवृत्ति रहस्यात्मक अभिव्यक्ति है। सिद्धों ने निवृत्ति की प्रधानता रखते हुए सदाचार तथा मध्यम मार्ग पर बल देते हुए क्रियात्मक रूप में भोग में ही निर्वाण, कलमकुलिश साधना, सहजसंयम, गुरुमहिमा, कायातीर्थ तथा मंत्रतंत्रादि की निरर्थकता प्रतिपादित की है। जैनदर्शन ने आत्मा को ही परमात्मा का रूप दिया है तो सिद्धों ने पिंड में ही ब्रह्माण्ड को स्थापित किया है। सिद्धों की रचना में खंडन-मंडनात्मक प्रतिक्रिया उग्ररूप में पाई जाती है। इनकी वाणियाँ द्वयर्थक हैं - भोगपरक तथा निर्वाणपरक। परवर्ती जनता ने भोगपरक अर्थ को ही अपनाया। अतः परवर्तीयुग में इनका प्रभाव जनता पर अवांछनीय पड़ा। उनकी वाणियों का अर्थ समझने के लिए वज्रयान, महायान तथा योगशास्त्र में प्रयुक्त शब्दों के अर्थ तथा उनकी व्याख्या समझनी आवश्यक हो जाती है। वाममार्ग एवं कौलाचार का साधारण ज्ञान भी आवश्यक हो जाता है। इन सम्प्रदायों द्वारा गुह्य साधना एवं तंत्र-मंत्रों का प्रभाव पड़ा है। इनकी साधना में स्त्री का साहचर्य भी आवश्यक था। अतः कामोपभोग भी सिद्धि का अंग उठराया गया, यथा -

दुष्करैर्नियमैस्तीव्रैः सेव्यमानो न सिध्यति।

सर्वं कामोपभोगांस्तु सेवयंश्वासु सिध्यति॥

( गुह्यसमाजतंत्र, पृष्ठ 27 )

इन सबका व्यापक परिणाम समाज के लिए आगे चलकर कल्याणकर न हुआ।<sup>15</sup> इसप्रकार यह कहा जा सकता है कि इन्होंने कामोपभोग की प्रवृत्ति को ही उकसाया और मद्य, मांस, मदिरा, स्त्री तथा मैथुन का खुलेआम प्रचार किया। ये शब्द अपने दार्शनिक तथ्यों में साधनाओं के प्रतीक थे। मद्य मन का प्रतीक था, मांस इन्द्रियनिग्रह का, मदिरा प्रेम का, स्त्रीसमाधि या मुक्ति तथा मैथुन उस क्रिया का प्रतीक था जिससे परमानंद की दशा प्राप्त की जा सकती थी। परन्तु उत्तरकाल में साधारण जनता ने इन सबको अभिधेयार्थ में ही ग्रहण किया जो महान अनर्थकारी सिद्ध हुआ।

सिद्धों की अपभ्रंश रचनाओं में अभिव्यक्त भावधारा प्रायः एक-समान है। संसार की अविद्या से मुक्त होकर अपने ही अन्तर्गत रहनेवाले सहजानन्द की प्राप्ति को प्रत्येक सिद्ध ने श्रेष्ठ बताया है। सरह अन्यमार्गों को बंकिम बताते हैं और सहजमार्ग को अत्यन्त साधु कहते हैं, यथा -

उजुरे उजु छाडि मा लेहु रे बंक  
निअडि बोहि आ जाहुरे लांक  
हाथेर कांकन आ लेउ दापन  
अपने अपा बुज्जत निअमन

( चर्या. 32 )

अर्थात् सीधे को छोड़कर टेढ़े को मत अपनाओ, बोधिनिकट है, दूर मत जाओ, हाथ में कंगन है, दर्पण मत लो, आत्मा को जानो। चित्र को तथा शरीर की वृत्तियों के शमन का सिद्धों ने बार-बार उल्लेख किया है। भूसुक, आनन्द की स्थिति इस काव्य और चित्त से परे बताते हैं, यथा -

हरिणी बोलइ हरिणा सुन तो  
ए वन छाडि होहु भान्तो  
भवतरंगे हरिणार खुर न दीसइ  
भूसुक भणइ मूढ हिअहि ण पइसइ।

( चर्या. 8 )

अर्थात् हरिणी नैरात्मा कहती है - ए हरिण-चित्त! सुनो। इस वनकायरूपी चित्त को छोड़कर अन्यत्र भ्रमण करो। संसार के त्रास से हरिण के खुर नहीं दिखते। भूसुक कहते हैं - मूर्ख के हृदय में यह तत्त्व नहीं प्रवेश करता।

लुइपा चित्त की चंचलता का उल्लेख करते हैं और साथ ही जगत को, जल में प्रतिबिम्बित चन्द्र के समान न झूठ कहते हैं न सत्य।<sup>16</sup> यह सहजसुख श्रेष्ठ आनंद है। सिद्धों ने इस आनन्द की प्राप्ति के लिए गुरु के महत्त्व को स्वीकारा है। सरह ने शास्त्रों को मरुस्थल कहा है और गुरु की वाणी को अमृत रस की संज्ञा दी है, यथा -

गुरुवअण अमियरस, धवडि ण पिविअड जेहिं।  
वहु सात्तात्थ मरुत्थलेहिं, तिसिअ मरिब्बो तेहिं॥

( दोहाकोश, पृष्ठ 12 )

अर्थात् जो गुरु की वाणी के अमृतरस को नहीं पीता है वह शास्त्ररूपी मरुस्थल की भूमि में तृषातुर होकर मरता है। जगत के मायाजाल से सद्गुरु ही मुक्ति दिला सकते हैं।

भूसुक कहते हैं -

माआजाल पसरिउ रे बाधेलि माआ हरिणी।  
सद्गुरु बोहे बूझि रे कासु कहिनि॥

( चर्या. 10 )

कणहपा का मानना है कि मन और इन्द्रियों का प्रसार गुरु की कृपा से ही नष्ट हो सकता है। मन-वृक्ष की पाँच इन्द्रियाँ शाखाएँ हैं, आशादि फल और पत्ते हैं। गुरुवचन-कुठार से काटने पर फिर यह वृक्ष हरा नहीं होता।<sup>17</sup> तिलोपा ने अपने पदों में अनेक बार गुरु की आवश्यकता को जताया है।<sup>18</sup> दारिकपा गुरु की आज्ञा से विषयेन्द्रियों का सुख भी वर्जित नहीं मानते हैं।<sup>19</sup>



महासुख की प्राप्ति से संसार के दुःख नष्ट हो जाते हैं और ज्ञानप्रकाश का उदय होता है। सरह कहते हैं -

घोरान्ध्रं चन्दमणि जिम उज्जोअ करेइ।  
परम महासुह एक्कुखणे दुरिआसेस हरेइ॥

( दोहाकोश, 97 )

परमसुख में मग्न होने की इस लोकातीत दशा का बड़े भावुक ढंग से वर्णन कणहपा ने किया है, यथा -

चेअन न वेअन भर निद गेला  
सअल सुफल करि सुहे सुतेला  
स्वपने मई देखिल तिहुअन सुण्ण  
घोरिअ अवनागवन विहुन।

( चर्या. 36 )

अर्थात् सहजानन्द योगनिद्रा में चेतना, वेदना कुछ नहीं रही है। जगत के सब व्यापारों को समाप्त करके वे ज्ञाननिद्रा को प्राप्त हुए हैं। स्वप्नवत् सब जगत अलीक दिखता है, त्रिभुवन शून्यमय दिखता है। जन्ममरण से वे मुक्त हो गए हैं। विरुपाद (चर्या. 3), गंडरीपाद (चर्या. 4), धामपाद (चर्या. 47), जयनन्दीपाद (चर्या. 46), कंकणपाद (चर्या. 45), ताड़कपाद (चर्या. 37), महीधरपाद (चर्या. 16) आदि ने इसप्रकार की अनुभूति का वर्णन किया है। शान्तिपा रुई को धुनने के रूपक द्वारा शून्यता को प्राप्त करने की बात कहते हैं, यथा -

तुला धुणिधुणि आँसुरे आँसु  
आँसु धुणि धुणि णिखर सेसु  
तुला धुणि धुणि सुणे अहारिउ  
पुण लइआ अपणा चटारिउ  
बहल बढ दुइ मार न दिशअ  
शान्ति भणइ बालाग न पइसअ  
काज न कारण ज एहु जुगति  
सअ संवेअण बोलाथि सान्ति

( चर्या. 26 )

अर्थात् रुई को धुनते-धुनते उसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंश-रेशे निकालते चलो फिर भी उसका कारण दृष्टिगत नहीं होता। उसको अंश-अंश रूप से विभाजन और विश्लेषण कर देने पर अन्त में कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता अपितु अनुभव होने लगता है कि रुई शून्यता को प्राप्त हो गई। इसीप्रकार चित्त को भलीभाँति धुनने पर भी उसके कारण का परिज्ञान नहीं होता। उसे समग्र वृत्तियों से रहित और निःस्वभाव कर शून्य तत्त्व को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। शून्य करुणा की अभिन्नता से दारिकपा गगन के परम पार तट पर विलास करते हैं। तंत्र, मन्त्र, ध्यान, व्याख्यान सबको व्यर्थ समझते हैं। इस अवस्था में पहुँचकर ही वह वास्तव में राजा

हुए, अन्य राज्य तो मोह के बन्धन हैं। दारिकपा की महासुखवादपरक रहस्यमयी कविता द्रष्टव्य है -

सुन कुरुण रे अभिनचारें काअवाक्चिर्एँ।  
विलसइ दारिक गअणत पारिमकुलें॥  
किन्तो मन्ते किन्तो तन्ते किन्तो रे झाण वखाणे।  
अपइठान महासुहलीलें दुलक्ख परमनिवारणें॥  
राआ राआ राआरे अवर राअ मेहि रे बाधा।  
लुइपाअ पए दारिक द्वादश भुअणे लाधा॥

( चर्या. 34 )

कृष्णपा अर्थात् कण्हपा आगम, वेद, पुराण और पंडितों की निन्दा करते हुए कहते हैं, यथा -

लोअह गब्ब समुब्बहइ, हउँ परमत्थ पवीण।  
कोडिअ मन्ध्रे एक्कु जइ, होइ णिरंजण लीण॥  
आगम वेअ पुराणे ( ही ), पण्डिअ माण वहन्ति।  
पक्क सिरीफले अलिअ जिम बाहेरीअ भमन्ति॥

अर्थात् व्यर्थ ही मनुष्य गर्व में डूबा रहता है और समझता है कि मैं परमार्थ में प्रवीण हूँ। करोड़ों में से कोई एक निरंजन में लीन होता है। आगम, वेद, पुराणों से पण्डित अभिमानी बनते हैं, किन्तु वे पक्व श्रीफल के बाहर ही बाहर चक्कर काटते हुए भौरों के समान आगमादि के बाह्यार्थ में ही उलझे रहते हैं। कण्हपा मेरु गिरि शिखर पर ही महासुख का आवास बताते हैं। वहाँ पहुँचना बड़ा कठिन है। यहीं सहज सुख की भावना देखी जाती है, यथा -

वरगिरि सिहर उत्तुंग थलि शबरे जहिं किअ वास।  
णउ लंधिअ पंचाननेहिं करिवर इरिअ आस॥

( अपभ्रंश पाठावली, प्रो. मोदी, पृष्ठ 148 )

अर्थात् महासुखरूपी शबर ने मेरुगिरि पर वास कर लिया है, वहाँ न सिंह जा सकता है और न हाथी का कोई बस चलता है। तब साधारणजन की क्या गति हो सकती है?

चर्यागीतों में सिद्धों ने अपने भावों में प्रायः रूपकों का सहारा लिया है। ढेंढणपा कहते हैं - “नितेनिते षियाला सिंहै समजूझअ। ढेण्डणपाएर गीत विरले बूझइ” (चर्या. 41)। इसीतरह ताड़कपा भी संकेत करते हैं - “जो बूझइ ता गले गलपाश” (चर्या. 45)। सिद्धों की रचना में इसीप्रकार की भावना एवं रूपकों का प्रयोग मिलता है। उन्होंने उपमानों के नए प्रयोग किए हैं, यथा - तरुवर-काया, चित्त तथा सृष्टि विस्तार के लिए; करम-मन के लिए; मूषक-मन, वाण; शर-गुरुवचन आदि आदि के लिए प्रयुक्त हुए हैं।<sup>20</sup> सिद्धों ने प्रायः व्यावहारिक जीवन के पदार्थों को ही अपने रूपकों का उपकरण बनाया है।<sup>21</sup> प्रधान रूपक इसप्रकार हैं - नौका का रूपक, कान्ह, डोम्बी, कम्बलाम्बर और सरंह ने क्रमशः चर्या. 13, 14, 38, 8 में लिया

है। चूहे का रूपक भूसुक द्वारा चर्या. 21 में, वीणा का रूपक वीणापा ने चर्या. 17, हाथी का रूपक महीधर और काणहपा ने क्रमशः चर्या. 16, 9, 12 में; हरिण का रूपक भूसुक चर्या. 6 में प्रयुक्त किया है। कणहपा का विवाह का रूपक (चर्या. 19) दर्शनीय है।

सिद्धों की वाणियों में प्रयुक्त छंदों में विविधता नहीं है। चर्यागीति गेयपदों के रूप में हैं। प्रत्येक चर्या के प्रारम्भ में किसी न किसी राग का निर्देश मिलता है। पटमंजरी, मलारी, भैरवी, कामोद, गवड़ा, देशाख, रामक्री, बराड़ी, गुंजरी, गुर्जरी, अरु, देवक्री, मनसी, बड़ारी, इन्द्रताल, शवरी, वल्लाडि, पालसी, मालसी, गबुडा, कह्य, गुंजरी, बंगाल और पटल नामक चौबीस रागों का व्यवहार चर्यापदों में हुआ है। दोहे के अतिरिक्त पादाकुलक, अडिल्ला, पञ्जटिका, गाथा, रोला, उल्लाला, रागध्रुवक, पारणाक, द्विपदी, महानुभाव, मरहट्टा छन्द प्रयुक्त हुए हैं। एक ही गीत में कई छंदों का भी मिश्रण हुआ है, यथा - चर्या. 47 (धामपाद) में रगड़ा ध्रुवक, पारणक, पद्धड़िया छंदों का प्रयोग है। चतुष्पदी छंदों का प्रयोग द्विपदी के समान किया गया है और दो चरणों से ही छंद पूरा हुआ मान लिया गया है।<sup>22</sup> सिद्धों के काव्य में सभी रसों का परिपाक शान्त रस में हुआ है।

सिद्धों की काव्यभाषा के दो रूप मिलते हैं - एक तो पूर्वी अपभ्रंश का रूप जिसमें पश्चिमी अपभ्रंश के शब्दरूप भी मिलते हैं<sup>23</sup> तथा दूसरा रूप पश्चिमी अपभ्रंश अर्थात् शौरसेनी का मिलता है। चर्यागीतों में पूर्वीरूप की प्रधानता है और दोहाकोश के पद्यों का रूप पश्चिमी अपभ्रंश का है।<sup>24</sup> सरह की उपमा "उड्डी वोहिअ-काउ जिमु" का प्रयोग सूरदास ने अपने अनेक पदों में किया है - "भटक फिर्यौ बोहित के खग ज्यों पुनि फिरि हरि पै आयो" (भ्रमरगीत 119) तथा "थकित सिन्धु नौका के खग ज्यों फिरि फिरि वोइगण गावति" (भ्रमरगीत 213)। अनेक उपमाओं, वाक्यांशों, विचारों और वाग्धाराओं को जिनका प्रयोग सिद्धों ने सहज मार्ग के लिए किया, सूर आदि भक्त कवियों ने भक्तिपरक अर्थ में किया।<sup>25</sup> इसप्रकार सिद्धों की काव्यभाषा सीधी-सरल होते हुए भी सन्ध्याभाषा या उलटबाँसी है। बीच-बीच में मुहावरों के प्रयोग से प्रभावोत्पादकता बढ़ गई है।

इसप्रकार सिद्धों की रचनाओं में तांत्रिकविधान, योगसाधना, आत्मनिग्रह, श्वासनिरोध, भीतरी चक्रों और नाड़ियों का वर्णन, अन्तर्मुख साधना के महत्त्व की शिक्षा का प्राधान्य है। सिद्धों ने अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का दिग्दर्शन करनेवाले साधनापरक साहित्य का निर्माण किया। अन्तःसाधना पर जोर तथा पण्डितों को फटकार तथा शास्त्रीय मार्ग का खण्डन करके स्वच्छन्द मार्ग का समर्थन सिद्ध साहित्य में दृष्टिगत है। सिद्धों की सहजावस्था के बहुत से तत्व और पारिभाषिक शब्द जैसे नाद बिन्दु, सुरति, निरति, सहजशून्य, निर्गुण काव्यधारा में ज्यों के त्यों आ गए हैं। निर्गुण काव्यधारा के काव्यकारों ने भी सिद्धों के अनुकरण पर धर्मों के बाह्याचारों की निंदा की है। इनके रहस्यवाद का प्रभाव निर्गुणधारा के कवियों पर पड़ा है। भाव और शैली की दृष्टि से परवर्ती साहित्य पर सिद्ध साहित्य का प्रभावयथेष्टरूप से परिलक्षित है। आचार्य रामचन्द्र का कहना है कि "जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियों और दशाओं से उनका रागात्मक सम्बन्ध नहीं। अतः वे शुद्ध साहित्य एवं काव्यपरम्परा में (उनकी रचनायें) नहीं रखी

जा सकती।'<sup>26</sup> महापण्डित राहुल साँकृत्यायन का मानना है "सिद्धों की कविता ने केवल स्वच्छ साधनाजन्य हृदयानुभूति को प्रकाशित किया है, जिनमें सैकड़ों मनुष्य आनंद प्राप्त करते हैं, उसमें अपना निजी सौन्दर्य है तथा अद्भुत प्रभावोत्पादकता है। पाठक इन कविताओं को पढ़कर आत्मतृप्ति को अनुभव करने लगता है। अतः उनकी कविता को कविता मानना ही पड़ता है।<sup>27</sup> वस्तुतः सिद्धों ने अपनी अटपटी वाणी द्वारा नए-नए उपमान तथा रूपकों द्वारा बुद्धिवाद को जन्म दिया है। अनेक नवीन शब्दों का प्रयोग किया जिनका प्रभाव हिन्दी के निर्गुण कवियों पर पड़ा। रीतिकाल की समस्त रचना का बीजरूप सिद्धों में प्राप्त होता है। इसप्रकार हिन्दी साहित्य की परवर्ती प्रवृत्तियों तथा परम्पराओं की गुत्थियों को सुलझाने के लिए इस साहित्य का अध्ययन परमावश्यक है।

1. भूमिका, साधनमाला, गा.ओ.सी. नं. 41, भाग 2, बड़ौदा 1928।
2. प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य तथा उनका हिन्दी साहित्य पर प्रभाव, रामसिंह तोमर, पृष्ठ 170-171।
3. हाजार वछरेर पुराण बाँगला भाषाय बौद्धगान ओ दोहा, बंगीय साहित्य परिषद् कलकत्ता से प्रकाशित सन् 1916।
4. भूमिका, सनत्कुमारचरित, याकोबी, पृष्ठ 27।
5. फ्रेंच भाषा में रचनाओं का अध्ययन प्रस्तुत किया। भूमिका, सनत्कुमारचरित, याकोबी, पृष्ठ 20।
6. (अ) ढाका यूनिवर्सिटी स्टडीज, 1940।  
(ब) दोहाकोश, जर्नल्स अव द डिपार्टमेंट अव लैटर्स, भाग 28, कलकत्ता यूनिवर्सिटी, 1935।  
(स) मेटेरियल फार द क्रिटिकल एडीशन अव द चर्याज, भाग 30, 1939।
7. (क) इंडियन लिंग्विस्टिक्स, भाग 10, 1948 ई.।  
(ख) चर्यागीति पदावली, वर्धमान, 1958 ई.।
8. (क) हिन्दी के प्राचीनतम कवि, पुरातत्त्वनिबंधावली, पृष्ठ 160-204।  
(ख) काव्यधारा, पृष्ठ 2-21।  
(ग) सरह का दोहाकोश, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद् पटना, 1958।
9. नाथ सम्प्रदाय, हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ 27-32।
10. दोहाकोश की भूमिका, राहुल, पृष्ठ 77।
11. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ 8, पाद टिप्पणी।
12. प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य, रामसिंह तोमर, पृष्ठ 173-174।
13. दोहाकोश, राहुल, पृष्ठ 69।
14. अपभ्रंश काव्य परम्परा और विद्यापति, अंबादत्त पंत, पृष्ठ 414-415।
15. (क) उत्तरीभारत की संतपरम्परा, परशुराम चतुर्वेदी, पृष्ठ 32 तथा 45।  
(ख) सिद्ध साहित्य, डॉ. धर्मवीर भारती, पृष्ठ 113।

16. चर्या. 1.2।
17. चर्या. 4.5।
18. चर्या. 6, 8, 26 तथा 31।
19. चर्या. 34।
20. सिद्धसाहित्य, धर्मवीर भारती, पृष्ठ 449-457।
21. स्टडीज इन द तंत्राज, डॉ. बागची, पृष्ठ 74।
22. प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य, रामसिंह तोमर, पृष्ठ 182-183।
23. पूर्वी रूपों के कारण उत्साहपूर्वक चर्यापदों को मैथिली, बंगाली, उड़िया, भोजपुरी विद्वान अपनी-अपनी भाषाओं का पूर्वरूप बताते हैं।
24. ओरिजन एण्ड डेवलेपमेंट ऑफ बंगाली लैंग्वेज, सुनीतिकुमार चटर्जी, पृष्ठ 111-112।
25. अपभ्रंश साहित्य, हरिवंश कोछड़, पृष्ठ 307।
26. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ 24।
27. काव्यधारा, राहुल, पृष्ठ 47।

हिन्दी विभाग  
दयालबाग विश्वविद्यालय  
दयालबाग  
आगरा (उ.प्र.)

---

## महाकवि स्वयम्भू का नागर-बिम्ब सौन्दर्य

— डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव

आधुनिक आलोचनाशास्त्र काव्य में बिम्ब-सौन्दर्य को सातिशय महत्त्व देता है। वस्तुतः बिम्ब कवि-कल्पना का काव्यभाषिक विनियोग है। बिम्ब के माध्यम से ही कल्पना रूपायित होती है और सौन्दर्य में मुखरता आती है, साथ ही बिम्ब से ही कल्पना और सौन्दर्य को अभिनवता भी प्राप्त होती है। काव्य में ग्राह्यता या सम्प्रेषणीयता के गुणों का आधान बिम्ब-विधान से ही सम्भव है। बिम्ब को हम प्रभाव की प्रतिकृति भी कह सकते हैं। जो कवि रचना-प्रक्रिया में जितना कुशल होता है समर्थ बिम्बों के निर्माण में वह उतना ही निपुण होता है।

समर्थ और उत्कृष्ट काव्य-बिम्बों में ऐन्द्रियता और संवेदनों को उद्बुद्ध करने की ततोऽधिक क्षमता होती है। इसलिए, जो बिम्ब जितने समर्थ और उत्कृष्ट होते हैं, वे कवि के चिन्तन या उसकी सिसृक्षा के उतने ही सफल और सक्षम संवाहक होते हैं। उत्कृष्ट बिम्बों में साधारणीकरण की भी अद्भुत योग्यता होती है। उत्कृष्ट बिम्ब वर्ण्य विषय में निहित संवेग को मूर्त करके, उससे सभी संवेदनशील सहृदय-हृदय भावकों को अभिभूत कर देता है। संवेग का यह साधारणीकरण ही बिम्ब-विधान की चरम सफलता का परिचायक है।

बिम्बात्मक काव्यकला मूलतः श्रव्यकला होती है, जिसमें स्थापत्य, मूर्ति और चित्रकला, अर्थात् दृश्य या चाक्षुषकला (ऑप्टिक इमेज) के तत्त्व अधिक रहते हैं; क्योंकि बिम्ब प्रायः

दृष्टिगोचर होता है, जिसका रूप या आकृति से अनिवार्य सम्बन्ध होता है। इसलिए, काव्यशास्त्र के आचार्यों ने बिम्ब-विधान की प्रक्रिया को रूप-विधान की संज्ञा दी है।

बिम्बवादी आलोचकों के अनुसार विकासात्मक दृष्टि से बिम्ब के तीन रूप अधिक मान्य हैं। ये हैं -

1. वस्तुविशेष की छाया का स्पष्ट सम्मूर्तन,
2. छाया की छाया का सम्मूर्तन तथा
3. वस्तुबोध से सर्वथा पृथक् प्रतीक के समकक्ष सम्मूर्तन।

तीसरे रूप को हम भावबिम्ब भी कह सकते हैं। बिम्ब-सौन्दर्य की दृष्टि से यह भावबिम्ब अपना अधिक कलात्मक मूल्य रखता है।

बिम्ब-विधान के उक्त परिवेश में अपभ्रंश के महाकवि स्वयम्भू के बिम्बबहुल महाकाव्य 'पउमचरिउ' का अध्ययन अतिशय रुचि और महार्घ सिद्ध होता है। यों, 'पउमचरिउ' की बिम्बात्मक सौन्दर्य-चेतना का अध्ययन एक स्वतन्त्र शोध-प्रबन्ध का विषय है? हम यहाँ उस कालोत्तीर्ण महाकाव्य में चित्रित दो-एक प्रमुख नगरों के बिम्ब-सौन्दर्य के विवेचन तक ही सीमित रहेंगे।

महाकवि स्वयम्भू द्वारा प्रस्तुत नगर से सम्बद्ध बिम्ब मूर्ति, स्थापत्य एवं चित्रकला से विशेष प्रभावित हैं, जिनमें सौन्दर्य, कल्पना और प्रतीकों का मनोहारी विनियोग हुआ है। महाकवि ने राजगृह का बिम्बात्मक वर्णन इस प्रकार किया है -

तहिं तं पट्टणु रायगिहु धण-कणय-समिद्धउ।  
णं पिहिविऐं णव-जोव्वणएँ सिरें सेहरु आइद्धउ॥

चउ-गोउर-चउ-पायारवंतु। हसइ व मुत्ताहल-धवल दंतु॥  
णच्चइ व मरुद्धुय-धय-करगु। धरइ व णिवडंतउ गयण-मग्गु॥  
सूलग्ग-मिण्ण-देवउल-सिहरु। कणइ व पारावय-सइ-गहिरु॥  
धुम्मइ व गएँहि मय-भिम्मलेहिं। उडुइ व तुरंगहिं चंचलेहिं॥  
णहाइ व ससिकंत-जलोहरेहिं। पणवइ व हार-मेहल-भरेहिं॥  
पक्खलइ व णेउर-णियलएहिं। विप्फुरइ व कुंडल-जुयलएहिं॥  
किलिकिलिइ व सव्वणुच्छवेण। गज्जइ व मुरव-भेरी-रवेण॥  
गायइ वालाविणि-मुच्छणेहिं। पुरवइ व धण्ण-धण-कंचनेहिं॥  
णिवडिय-पण्णेहिं फोफ्फलेहिं छुह चुण्णासंगे।  
जण-चलणग्ग-विमहिँएण महि रंगिय रंगे॥

( 1.4.9; 1.5.1-9 )

प्रस्तुत नगर-वर्णन में महाकवि के बिम्ब-विधान का प्रकर्ष उसके उदात्त बिम्बों में निहित है, जहाँ वर्ण्य और आलम्बन की असीम या अमेय रूप-कल्पना, अपने विराट् चित्रफलक के कारण, चित्त को विस्मय में डालनेवाली अप्रस्तुत-प्रतीति को नायिका और उसकी शिरोमणि

के रूप में इंगित करती है। जहाँ पृथ्वी नवयौवना नायिका हो और राजगृह नगर उस नायिका के शिर पर सुशोभित होनेवाली चूडामणि के समान हो, अवश्य ही पृथ्वी का यह विराट् चित्र चाक्षुष बिम्ब के उत्कृष्ट और मनोरम सौन्दर्य की सृष्टि करता है। पूरे राजगृह नगर का वर्णन बहुविध मोहक बिम्बों का अलबम या चित्राधार जैसा प्रतीत होता है। वर्णन के पूरे प्रकरण का अर्थ है -

“धन और सोने से समृद्ध राजगृह नगर ऐसा लगता है, जैसे नवयौवना पृथ्वी के शिर पर चूडामणि बाँध दी गई हो या मँगटीका नाम का गहना पहना दिया गया हो।

चार गोपुरों और चार परकोटों से घिरा राजगृह नगर मोतियों जैसे चमकते दाँतों से हँसता हुआ जान पड़ता है। गगनचुम्बी मन्दिरों पर हवा में उड़ती ध्वजाओं से वह नगर नृत्य करता-सा प्रतीत होता है और ध्वजा-रूपी हथेलियों से मानो गिरते हुए आकाशपथ को धारण किये हुए है। त्रिशूल से सुशोभित मन्दिर के शिखर, उन पर बैठे कबूतरों के कूजन से गुंजित है। झूमते मदविह्वल हाथियों से वह नगर झूमता हुआ-सा प्रतीत होता है और चपलगति घोड़ों से तो ऐसा लगता है, जैसे स्वयं वह नगर उड़ रहा हो। चन्द्रकान्त मणि से रिसनेवाली जलधाराओं से वह नगर स्नान करता-सा प्रतीत होता है? वह नगर हार और मेखलाओं के भार से नत है, नूपुरों से झंकृत है और कुण्डलों से दीप्त है। वहाँ होनेवाले सार्वजनिक उत्सवों से वह नगर किलकारियाँ भरता-सा मालूम होता है। मृदंग और नगाड़े की आवाज से वह गरजता-सा लगता है, तो बालाओं द्वारा बजाई जाती वीणाओं की मूर्च्छनाओं (स्वर के आरोह-अवरोह) से वह नगर गाता-सा मालूम होता है। धन, धान्य और कंचन से तो वह नगर साक्षात् नगरपति जैसा लगता है।

पान, सुपाड़ी, कत्था, चूना आदि से बने पान के बीड़े चाबनेवालों द्वारा उगली गई पीक से उस नगर की धरती लाल हो गई है।”

प्रस्तुत वर्णन में चक्षु, स्वाद, श्रवण और स्पर्शमूलक गत्वर बिम्बों का मनोरम समाहार हुआ है। इसमें महाकवि के वर्ण-परिज्ञान या रंगबोध से निर्मित बिम्बों में ऐन्द्रियता का विनिवेश तो हुआ ही है, अभिव्यक्ति में भी व्यञ्जक वक्रता आ गई है। नगर के सफेद रंग से स्वच्छता का बोध होता है, जिससे सात्त्विकता टपकती है। इसीलिए महाकवि ने सात्त्विक भावों की अभिव्यक्ति के निमित्त मुक्ताहल जैसे धवल रंग को अपनाया है। महाकवि ने सफेद रंग के अलावा लाल रंग को भी मूल्य दिया है। उसने लाल रंग से राजगृह नगर के निवासियों की रसास्वादक अनुरागी प्रवृत्ति को अभिव्यक्ति दी है। महाकवि ने अपनी रचना-प्रक्रिया की कुशलता से समृद्ध, समर्थ और उत्कृष्ट बिम्बों के निर्माण में अपनी अपूर्व काव्यशक्ति का आश्चर्यकारी परिचय दिया है। स्वनिर्मित बिम्बों के माध्यम से महाकवि ने राजगृह नगर की आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक एवं श्रेष्ठतर स्थापत्यमूलक समृद्धि के साथ ही वहाँ की ललितकलापरक सांगीतिक भाव-चेतना को एकसाथ प्रतिबिम्बित कर दिया है।

प्रस्तुत सन्दर्भ में महाकवि ने स्मृति के सहारे ऐन्द्रिय दृश्य के सादृश्य पर रूपविधान तो किया ही है उपमान और अप्रस्तुत के द्वारा भी संवेदना या तीव्र भावानुभूति की प्रतिकृति निर्मित की है, जिससे उपमान और रूपकाश्रित चाक्षुष स्थापत्य-बिम्ब का हृदयावर्जनकारी समुद्भावन हुआ



है। यहाँ वास्तविक और काल्पनिक दोनों प्रकार की अनुभूतियों से निर्मित बिम्ब तथ्य-बोधक भावविशेष का सफल संवहन करते हैं। राजगृह नगर का नवयौवना पृथिवी की चूडामणि के रूप में कल्पना या फिर चन्द्रकान्त मणि की जलधाराओं से नगर के सुखस्पर्श स्नान करने की कल्पना अवश्य ही वस्तुबोध से सर्वथा पृथक् प्रतीक के समकक्ष सम्मूर्तन है। प्रस्तुत स्मृत रूप-विधान में राजगृह नगर के अतीत स्थापत्य की स्मृति के आधार पर नूतन वस्तु-व्यापार का विधान किया गया है और इस प्रकार महाकवि द्वारा प्रस्तुत राजगृह का इन्द्रियगम्य बिम्ब सौन्दर्यबोधक होने के साथ सातिशयकला-वरेण्य भी है।

बिम्ब-विधान मानवीकरण का ही पर्याय है और महाकवि के नागर बिम्बों में मानवीकरण की प्रचुरता है। उसके द्वारा प्रतिबिम्बित नगर के सौन्दर्य-चित्रण में स्थापत्य-तत्त्वों अथवा वास्तु-चित्रण पर मानव -व्यापारों का आरोप किया गया है। मानवीकरण प्रतिबिम्बित सौन्दर्य-चित्रण की विकसित दशा है। दूसरे शब्दों में इसे हम मानवेतर प्रकृति में चेतना की स्वीकृति कह सकते हैं। इस सन्दर्भ में हम लंकानगरी का वर्णन देखें -

पढम विसंतंहेँ लंक णिहालिय।  
णाइँ विलासिणि कुसुमोमालिय॥

( 72.1.2 )

दिट्ठु स-मोत्तिउ रावण-पंगणु।  
णाइँ स-तारउ सरय-नहंगणु॥  
वहु-मणि-कुट्टिमु वहु-रयणुज्जलु।  
णाइँ विसट्टउ रयणायर-जलु॥

( 72.2.1-2 )

हसइ व रिउ-घरु मुहवय बंधुरु।  
विददुमयाहरु मोत्तिय दंतुरु॥  
छिवइ व मत्थए मेरु-महीहरु।  
तुञ्जु वि मञ्जुवि कवणु पईहरु॥

( 72.3.1-2 )

अर्थात् अंगद आदि वीरों ने जब लंकानगरी देखी, तब वह उन्हें फूल-मालाओं से सजी विलासिनी जैसी प्रतीत हुई।

उस नगरी में मोतियों से जड़ा, रावण के महल का प्रांगण तारक-जटित शरत्कालीन आकाश के आँगन की तरह प्रतीत हुआ। अनेक रत्नों से उज्ज्वल उस आँगन की मणिमय धरती रत्नाकर के विशिष्ट जल की तरह मालूम पड़ी।

उस नगरी में अवस्थित शत्रु (रावण) का घर अपनी भव्यता से हँसता-सा लग रहा था। उसका मुखभाग अतिशय रमणीय था। उस घर में जड़े हुए विद्रुम (मूँगा) उसके लाल अधर के समान थे और मोती उसके स्वच्छ दाँत की भाँति लगते थे। सुमेरु पर्वत जैसी अपनी ऊँचाई

से वह घर आसमान छू रहा था और यह अन्दाज ले रहा था कि उसमें और आसमान में कौन अधिक ऊँचा है।

प्रस्तुत स्थापत्यमूलक वास्तु-वर्णन से स्पष्ट है कि महाकवि स्वयम्भू को मानवीकरण के प्रति सहज मोह है। लंका नगरी में अवस्थित रावण-गृह के चित्रण के ब्याज से पाठकों को सुन्दर मानवीकरण मिलता है; क्योंकि यथाप्रस्तुत इस वास्तु-चित्र में मानवीय व्यापार के अनुकूल ललित अंग-विन्यास का अतिशय रुचिर और रूपकाश्रित आरोप हुआ है। लंका नगरी को फूल-मालाओं से सजी विलासिनी नायिका के रूप-व्यापारों से विभूषित कर उपस्थित किया गया है। अपनी ऊँचाई से आसमान के साथ प्रतिस्पर्धा करनेवाले रावण-गृह में मानवोचित प्रतिद्वन्द्विता का निवेश तो भव्यतम बिम्ब-विधान का निदर्शन उपन्यस्त करता है।

महाकवि स्वयम्भू ने प्राकृतिक उपादानों के माध्यम से अप्रस्तुत के मूर्तिकरण के क्रम में चित्रोपम बिम्बों की अतिशय आवर्जक योजना की है। प्रकृति के उपकरणों को केवल उत्प्रेक्षा या उपमानों की तरह प्रयुक्त करने के क्रम में तो महाकवि ने चाक्षुष बिम्बों के विधान की विलक्षण शक्ति का परिचय दिया है। इस सन्दर्भ में हम किष्किन्ध नगर के अतिशय मनोहर बिम्ब-सौन्दर्य का दर्शन करें -

शोवंतरे धन-कंचण-पउरु। लक्खिज्जइ तं किक्किंधणयरु ॥  
 णं णहयलु तारा-मण्डियउ। णं कव्वु कइद्धय-चड्डियउ ॥  
 णं हणुअ-विहूसिउ मुह-कमलु। विहूसिउ सयवत्तु णाडुँ स-णलु ॥  
 णं लिलालंकिय आहरणु। णं कुंद-पसाहिउ विउल-वणु ॥  
 सुग्गीववंतु णं हंस-सिरु। णं झाणु मुणिंदहुँ तणउ थिरु ॥  
 माया-सुग्गीवेँ मोहियउ। कुसलेण णाँइ कामिणि-हियउ ॥

( 43.11.1-6 )

अर्थात्, धन-कंचन से भरपूर किष्किन्धनगर तारों से मण्डित आकाश जैसा या वानर द्वीप के राजा से आक्रान्त शुक्रग्रह जैसा लगता था। वह नगर चिबुक से सुशोभित मुखकमल जैसा था या नाल-सहित कमल के समान विहंसता हुआ प्रतीत होता था। वह नगर नीलमणि से अलंकृत आभरण जैसा या फिर कुन्द पुष्प से प्रसाधित विपुल वन जैसा दिखाई पड़ता था। वह नगर सुन्दर ग्रीवा से युक्त हंस जैसा था या फिर मुनीन्द्रों के स्थिर ध्यान जैसा लगता था। वह मायामय सुग्रीव से उसी प्रकार मोहित हो रहा था, जिस प्रकार कुशल कामी कामिनी के हृदय को रिझा लेता है।

उपर्युक्त चाक्षुष स्थापत्य-बिम्ब में महाकवि ने नगर के शोभाधायक वैशिष्ट्य के वर्णन के क्रम में शब्दाश्रित और भावाश्रित, दोनों प्रकार के बिम्बों का प्रीतिकर विधान किया है। इसमें उत्प्रेक्षा और उपमा के मिश्रित बिम्बों का तो प्राचुर्य है और फिर 'सुग्रीव' शब्द में सभंग श्लेष-बिम्ब का विन्यास तो ततोऽधिक आवर्जनकारी है। कहना न होगा कि आचार्य कवि स्वयम्भू को अप्रस्तुत योजना के माध्यम से बिम्ब-सौन्दर्य के मुग्धकारी मूर्तन में पारगामी दक्षता प्राप्त है। अर्थबिम्ब और भावबिम्ब के समानान्तर उद्भावन में महाकवि की द्वितीयता नहीं है।

महाकवि अपनी भावयित्री और कारयित्री प्रतिभा के प्रदर्शन में काव्यानुभूति को ईमानदार से अभिव्यक्त करते हैं। निवृत्तिमार्गी आचार्योचित कुण्ठा उनके महाकवि को पराभूत नहीं क पाती है। इस सन्दर्भ में उनके द्वारा विकुण्ठ भाव से उद्भावित रामपुरी के रूपकाश्रित समासोक्ति-बिम्ब की आपातरमणीयता द्रष्टव्य है -

पुणु रामउरि पघोसिय लोएं । णं णारिहें अणुहरिय णिओएं॥  
 दीहर-पंथ-पसारिय-चलणी । कुसुम-णियत्थ-वत्थ-साहरणी॥  
 खाइय-तिवलि-तरंग-विहूसिय । गोउर-थणहर-सिहर-पदीसिय॥  
 विउलाराम-रोम-रोमंचिय । इंदगोव-सय-कुंकुम-अंचिय॥  
 गिरिवर-सरिय-पसारिय-वाही । जल-फेणावलि-वलथ-सणाही॥  
 सरवर-णयण-घणंजण-अंजिय । सुरधनु-भउह-पदीसिय-पंजिय॥  
 देउल-वयण-कमलु-दरिसेप्पिणु । वर-मयलंछण-तिलउ छुहेप्पिणु॥  
 णाईं णिहालइ दिणयर-दप्पणु । एम विणिम्मउ सयलु वि पट्टणु॥

( 28.5.1-9 )

अर्थात् गजमुखयक्ष द्वारा प्रचुर धन, स्वर्ण और जन से परिपूर्ण जिस नगरी का आधे पल में निर्माण किया, उसे लोगों ने 'रामपुरी' घोषित किया। रचना की दृष्टि से वह नगरी नारी की तरह प्रतीत होती थी। उस नगरी के रास्ते उस नारी के फैले हुए या पसारे हुए पैर थे; भरपूर खिले हुए फूल-रूपी वस्त्रों से वह आवृत थीं, खाई-रूपी त्रिवलि-तरंगों से विभूषित थी। वह नागरी नारी अपने गोपुर-रूप स्तन-शिखरों का प्रदर्शन कर रही थी, विपुल उद्यान-रूप रोमराजियों से वह पुलकित थी; सैकड़ों इन्द्रगोप उसके कुंकुम-बिन्दु की तरह सुशोभित थे। पहाड़ी नदियाँ उस नागर नारी की पसारी हुई बाँहें थीं; फेनिल नदी जल का आवर्त ही उसकी गहरी नाभि थी। उस नागर नारी के सरोवर-रूपी नेत्र गाढ़े अंजन से अंजित थे; इन्द्रधनुष-रूप उसकी भौंहें अंजन की कालिमा प्रकट कर रही थीं; देवकुल ही उसके मुखकमल थे। उस नागर नारी का भाल चन्द्रमा-रूप तिलक से अंकित था; वह दिनकर-रूपी दर्पण देखती थी। इस प्रकार यक्ष ने उस नगरी का अद्भुत निर्माण किया था।

यथावर्णित रामपुरी की सर्वालंकार भूषिता पीनस्तनी प्रौढ़ नायिका के रूप में सावयव कल्पना प्रज्ञाप्रौढ़ महाकवि के रूप-चित्रण की सुतीक्ष्ण सूक्ष्मेक्षिका की सूचना देती है। अवश्य ही महाकवि ने रामपुरी की वास्तु-समृद्धि का चित्रण करते हुए अतिशय और चमत्कारपूर्ण मानवीकरणमूलक आकर्षक चाक्षुष बिम्ब की योजना की है। सातिशय सुन्दरी नारी को मूर्तित करने में महाकवि ने अपनी वर्णन-विच्छित्ति की प्रौढ़ता के साथ ही भाषा की सर्वोत्तम शक्ति का भी परिचय दिया है। रूप-शृंगार के उपकरणमूलक बिम्ब-विधान में महाकवि ने इच्छित चित्र की चाक्षुष विशिष्टताओं को अंकित करने के लिए इन्द्रधनुषी बिम्बों का सर्वाधिक प्रयोग किया है, जिसमें उसके गम्भीर वर्ण-परिज्ञान का निदर्शन उपलब्ध होता है। सौन्दर्यानुभूति के वेष्टन में प्रकृति के कोमल और आह्लादकारी पक्षों के उपस्थापन में महाकवि स्वयम्भू ने अपनी सुदुर्लभ रचना-शक्ति से काम लिया है। प्रीतिमयी प्रकृति के विभिन्न उपादानों से एक रतिमयी नारी के सज्जीकरण (एसेम्बुल) में महाकवि की सफलता सचमुच श्लाघनीय है।

महाकवि ने रामपुरी के वर्णन में चित्रोपम बिम्ब-विधान के सहारे प्रकृति का मनोरम चित्र प्रस्तुत किया है। ऐसे बिम्बों के निर्माण में कल्पना के सम्मूर्तन से काम लिया गया है। इस चित्र में सम्पूर्ण चित्र-फलक को कल्पना की उदात्त संयोजन-शक्ति की विशाल पार्श्वभूमि प्रदान की गई है, जिसमें महाकवि की विधायक कल्पना और पाठकों की ग्राहक कल्पना की एकमेकता का अतिशय श्लाघ्य संयोजन हुआ है।

इस प्रकार, महाकवि स्वयम्भू के नगर-वर्णनों में चाक्षुष बिम्बों की प्रचुरता है। नगरविषयक स्थापत्य के वर्णन में महाकवि द्वारा निर्मित बिम्ब सहज ही विस्मित कर देने की शक्ति से संवलित हैं। बिम्बविधान के सन्दर्भ में महाकवि की ललित काव्यभाषा की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। महाकवि स्वयम्भू की काव्यसाधना मूलतः काव्यभाषा की साधना का ही उदात्त रूप है। महाकवि की अनन्त सागर के विस्तार जैसी काव्यभाषा से उद्भूत बिम्ब लहर की भाँति उल्लासकारक और हृदयाह्लादक हैं। इनमें महाकवि की सूक्ष्म भावनाओं या अमूर्त सहजानुभूतियों को मूर्तता या अभिव्यक्ति की मोहक चारुता प्राप्त हुई है, जिनमें महाकवि के घनीभूत संवेगों का संश्लिष्ट रूप समाहित है।

महाकवि स्वयम्भू ने संस्कृत और प्राकृत के अनेक जीर्ण बिम्बों (घिसे-पिटे बिम्बों - ट्राइट इमेजेज) का कायाकल्प किया है और उन्हें मार्मिक एवं नूतन अर्थच्छवियों से अभिमण्डित किया है। राजगृह नगर को नवयौवना पृथ्वी का मँगटीका बनाना या फिर दुष्प्रेक्ष्य सूर्य को दर्पण में प्रतिबिम्बित करना और ध्वजा-रूपी हथेलियों पर आकाशपथ को धारण करना आदि महाकवि के द्वारा प्रस्तुत सर्वथा अनास्वादित और प्रत्यग्र बिम्ब हैं, जो अन्यत्र प्रायोदुर्लभ हैं।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि महाकवि स्वयम्भू की काव्यभाषा में काव्य के शाश्वतिक गुण बिम्ब-सौन्दर्य प्रचुर मात्रा में सुरक्षित हैं, जिनके सांगोपांग अध्ययन-अनुशीलन के लिए मनस्वी और उत्साही अनुसन्धित्सुओं के सारस्वत प्रयत्न सतत प्रतीक्षित हैं।

पी.एन. सिन्हा कॉलोनी  
भिखनापहाड़ी  
पटना-800006

## उज्झर-मुरवाइँ व वायन्ती

रावणेण सरि दिट्टु वहन्ती। मुय-महुयर-दुक्खेण व जन्ती (?)।  
 वन्दण-रसेँण व वहल-विलिन्ती। जल-रिद्धिँणं जोव्वणइत्ती।  
 मन्थर-वाहेण व वीसत्थी। जच्च-पट्टवत्थइँ व णियत्थी।  
 वीणाहोरणइँ व पंगत्ती। वालाहिय-णिहाएँ व सुत्ती।  
 मल्लिअ-दन्तेहि व विहसन्ती। णीलुप्पल-णयणेँहिँ व णिएन्ती।  
 महुअरि-महुर-सरु व गायन्ती। उज्झर-मुरवाइँ व वायन्ती।

घत्ता - अरमिय-रामहों णिरु णिक्कामहों आरुसेँवि परम-जिणिन्दहों।  
 पुज्ज हरेप्पिणु पाहुडु लेप्पिणु गय णावइ पासु समुदहों।

- पउमचरिउ 14.10

रावण ने नर्मदा को बहते हुए देखा, जैसे वह मृतमधुकरों से दुःख से (धीरे-धीरे) जा रही हो, चन्दन के रस से अत्यन्त पंकिल, जल की ऋद्धि से यौवनवती, मन्द प्रवाह से विश्रब्ध, दिव्य वस्त्रों को धारण करती-सी, वीणा और अहोरण (दुपट्टा) से अपने को छिपाती-सी, व्यालों की नींद से सोती हुई, मल्लिका के समान दाँतों से हँसती हुई, नीलकमल के समान नेत्रों से देखती हुई वकुल (?), सुराकी गन्ध से मतवाली केतकी के हाथों से नाचती हुई, मधुकरी और मधुकर के स्वर से गाती हुई, निर्झर रूपी मृदंगों को बजाती हुई ।

घत्ता - स्त्री का रमण नहीं करनेवाला निष्काम परम जिनेन्द्र से रूठकर ही (उनकी) पूजा का अपहरण कर, उपहार लेकर मानो वह समुद्र के पास गयी ।

- अनु. डॉ. देवेन्द्रकुमार जै-

## जोड़ुं की भाषा

- डॉ. देवकुमार जैन

- डॉ. चित्तरंजनकर

•

काव्य मूलतः भाषिक व्यापार है, क्योंकि 'विशिष्ट पद-रचना' अथवा 'वैदग्ध्य-भंगी-भणिति' के द्वारा ही काव्य रस-निष्पत्ति के योग्य होता है। 'रसात्मक वाक्य' अथवा 'रमणीयार्थ-प्रतिपादक शब्द' का काव्यत्व इसी आधारभूमि पर संभव है। भारतीय और भारतीयेतर आधुनिक समीक्षकों ने भी यह स्वीकार किया है कि काव्य भाषा का ही एक विशिष्ट रूप है।'

काव्य को भाषा और भाषा को काव्य माननेवाले विद्वानों के मत से भी यह प्रमाणित होता है कि काव्य का मूल तत्व भाषा है। स्टेडमैन ने कविता को 'लयात्मक और कल्पनात्मक भाषा'<sup>2</sup> माना है। वेलेरी ने कविता को 'भाषा की कला'<sup>3</sup> कहा है। आगस्ट विल्हेम श्लेगेल के मतानुसार कविता आधुनिक संकेत-भाषाओं के ऊपर मूल भाषा की पुनः सृष्टि है और वह भाषा के उस प्रतीकात्मक विनियोग की ओर लौट आती है जिसमें भाषिक संकेत वस्तु को ठीक-ठीक प्रस्तुत करने में समर्थ होता है।'

भाषा को ही काव्य माननेवाले गोकक का मत है कि भाषा स्वतः कविता है।<sup>4</sup> यद्यपि भाषा का प्रत्येक प्रयोग काव्य की श्रेणी में नहीं आता, तथापि वह कॉलरिज के शब्दों में 'द बेस्ट वड्स इन द बेस्ट ऑर्डर' है।<sup>5</sup> निष्कर्षतः भाषा ही कविता का सारतत्व है और कविता भाषा का उत्कृष्ट निदर्शन है।<sup>6</sup>

स्पष्टतया कवि-कौशल का निर्णायक तत्व काव्य की भाषा है। भाषा के कुशल प्रयोग से वह एक शैली-विशेष को जन्म देता है जिसमें प्रभावपूर्ण संप्रेषणीयता स्वयमेव आ जाती है। प्रभावपूर्ण संप्रेषणीयता के लिए काव्यभाषा को बोलचाल की भाषा के निकट होना चाहिए।<sup>8</sup>

भाषा-प्रयोग की विशेषताओं के वैज्ञानिक अध्ययन की परंपरा भारत में सुदीर्घ रही है<sup>9</sup> जिसे शैलीविज्ञान के नाम से जाना जाता है। पाश्चात्य विद्वान् भी इस मत के पक्षधर हैं कि शैली और स्वस्थ प्रवृत्ति ही नहीं, बल्कि विवेकशीलता भी शब्दों के प्रयोग में सुस्पष्टता से व्यक्त होती है। जहाँ शब्द बहुत अधिक होते हैं, वहाँ विचारों, भावों का प्रस्तुतीकरण शिथिल व निर्जीव होता है। उलझे विचारों को सरल-सटीक भाषा में व्यक्त नहीं किया जा सकता।<sup>10</sup>

जोइंदु की काव्यभाषा का अनुशीलन करने पर विदित होता है कि वह तत्कालीन जनभाषा की उत्कृष्ट प्रतिदर्श रही होगी। यह तथ्य उनकी काव्यभाषा की सरलता, स्पष्टता, देशी शब्दों की प्रयोगबहुलता, लोकोक्तियों-कहावतों-मुहावरों की समाहित से तो प्रमाणित होता ही है, उनके रचना-उद्देश्य - भट्टप्रभाकर-सदृश सामान्यजन को परमार्थज्ञान सुलभ कराना - से भी अभिप्रमाणित होता है। भाषा में अर्थोत्कर्ष के लिए जोइंदु ने शब्दों के चारु प्रयोग एवं संदर्भगत औचित्य पर विशेष ध्यान दिया है। सरलता, स्पष्टता की रक्षा के लिए कहीं-कहीं अनगढ़ता भी मिलती है, जो कवि-स्वातंत्र्य या विचलन का उदाहरण प्रस्तुत करती है।

जोइंदु ने 'परमात्मप्रकाश' की रचना इतनी सुबोध और रोचक शैली में की है कि पाठक को तत्वज्ञान की नीरसता कहीं भी बाधित नहीं करती। अपने कथ्य को सहज रूप से संप्रेषणीय बनाने के लिए ही उन्होंने भाषा-प्रयोगगत विचलनों की ओर ध्यान नहीं दिया है और यही अपेक्षा वे पाठकों से भी करते हैं -

लक्खण छंद-विवज्जियउ एहु परमप्पयासु।

कुणइ सुयावइँ भावियउ चउगइ-दुक्खविणासु॥

( परमात्मप्रकाश, 210 )

अर्थात् यह परमात्मप्रकाश काव्य के लक्षणों तथा छंद आदि के नियमों से रहित है। यह सहज भाव से भावित हो कर मानव के चतुर्दिक् दुःखों का विनाश करनेवाला है।

शब्द और अर्थ के युक्तायुक्त जल्पित के लिए भी कवि ने ज्ञानियों से क्षमायाचना की है -

जं मइँ किं पि विजंपियउ जुत्ताजुत्तु वि इत्थु।

तं वर-णाणि खमंतु महु जे बुज्झहिँ परमत्थु॥

( वही, 212 )

अर्थात् इसमें जो मैंने युक्त-अयुक्त कहा है, उसे श्रेष्ठ ज्ञानीजन ( जो परमार्थ को जानते हैं ) ( मुझे ) क्षमा करें।

'परमात्मप्रकाश' में जोइंदु ने भट्ट प्रभाकर को तत्वज्ञान कराने के लिए पुनरुक्ति का आश्रय लिया है। इस पर कवि का कथन है कि -

इत्थु ण लेवउ पंडियहिं गुण-दोसु वि पुणरुत्तु।  
भट्ट-प्रभायर-कारणइं मई पुण पुण वि पउत्तु॥

(वही, 211)

‘परमात्मप्रकाश’ में संस्कृत के तत्सम एवं तद्भव (अपभ्रंश) शब्दों का प्रयोग यथास्थान हुआ है, जिनके साथ देशी शब्दों का आवश्यकतानुसार प्रयोग मिलता है, यथा - ‘अवक्खडी’ (चिंता, 1. 115), ‘चंडइ’ (ओरोहति, 2. 46), ‘चोप्पडउ’ (चिक्कण, 2. 74), ‘चेल्ला-चेल्ली’ (शिष्य-शिष्या, 2. 88), इत्यादि। इन देशी शब्दों के प्रयोग से अर्थगत सरलता के साथ-साथ प्रभावगत प्रत्यक्षता एवं जीवंतता का बोध होता है।

जब वक्ता या कवि अपने मनोगत भावों को अपेक्षित अभिव्यक्ति प्रदान करता है, तब वह भाषा के सामान्य प्रयोग से हटने लगता है। फलस्वरूप मुहावरों, लोकोक्तियों, कहावतों, बिंबों का प्रयोग जन्म लेता है। जोइंदु के काव्य में यत्र-तत्र मुहावरों का प्रयोग द्रष्टव्य है -

‘मं तुस कंडि’ (भूसे का खंडन मत कर) 2. 128

‘छदि गिलंति’ (वमन करके उसे निगलते हैं) 2. 91

‘मणि जाउ विहाणु’ (मन में ज्ञान का प्रभात हो गया) 2. 98

‘म वाहि तुहूँ अप्पण खंधि कुहाडि’ (अपने कंधे पर आप ही कुल्हाड़ी न चलाए) 2.138

भाषा में (अथच समाज में) प्राज्ञोक्तियाँ तत्कालीन अथवा पूर्वकालीन परिस्थितियों में उद्भूत वे अनुभवगत निष्कर्ष हैं जिनसे नव-जीवन सदैव अनुप्राणित होता है। इन्हें लोकोक्ति कहा जाता है। कभी-कभी कोई विशिष्ट घटना अर्थ-विशेष को व्यक्त करने का आधार प्रदान करती है, जिसे कहावत के रूप में जाना जाता है। जोइंदु लोककवि थे। अतः उनके काव्य में लोकोक्तियों का प्रयोग अनेकशः मिलता है -

‘एक्कहिं केम समंति बढ बे खंडा परियारि’

(एक म्यान में दो तलवारें कैसे आ सकती हैं) 1. 121

‘बइसाणरु लोहहं मिलिउ तें पिट्टियइ घणेहिं’

(आग लोहे से मिल जाती है, तभी घन से उसे पीटा जाता है) 2. 110

‘सो दइवेण जि मुंडियउ सीसु खडिल्लउ जासु’

(जिसका सिर दैवयोग से ही मुंडित है, उसे मुंडित नहीं कहा जाता) 2. 139

‘मूल विणट्ठइ तरु-वरहं अवसइं सुक्कहिं पण्ण’

(मूल विनष्ट होने पर उसके पत्ते अवश्य ही सूखते हैं) 2. 140

काव्य में प्रयुक्त भाषा बिंबात्मक होती है जो शब्द और अर्थ दोनों धरातलों पर चरितार्थ होती है। इस संदर्भ में पंत का कथन उल्लेखनीय है - “कविता के लिए चित्रभाषा की आवश्यकता पड़ती है। उसके शब्द सस्वर होने चाहिए, जो बोलते हों, सेब की तरह जिनकी तमधुर लालिमा भीतर समा न सकने के कारण बाहर झलक पड़े, जो अपने भाव को अपनी



ही ध्वनि में आँखों के आगे चित्रित कर सके, जो झंकार में चित्र और चित्र में झंकार हो, जिनका भावसंगीत विद्युत-धारा की तरह रोम-रोम में प्रवाहित हो सके, जिसका सौरभ सूँघते ही साँसों द्वारा अंदर पैठकर हृदयाकाश में समा जाए। जापान की द्वीपमालिका की तरह जिसकी छोटी-छोटी पंक्तियाँ अपने अंतस्तल में सुलगते प्वालामुखी को दबा न सकने के कारण अनंत श्वासोच्छ्वास के भूकंप में काँपती हों।”

काव्य में बिंब-विधान कल्पना के द्वारा होता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने बिंब के लिए जिस ‘विशेष’ की बात कही है, वह भी मूलतः कल्पनाप्रसूत ही है। केदारनाथ सिंह के शब्दों में - “कल्पनावृत्ति के भीतर भी यह विशेषीकरण की प्रवृत्ति काम करती है, जैसे अनुभूतियाँ किसी विशेष वस्तु, दृश्य, अथवा क्षण की बोधक होती हैं।”

महाकवि जोइंदु ने काव्य-बिंबों की सृष्टि अप्रस्तुत के साहाय्य से की है। अर्थात्तरन्यास और दृष्टांत अलंकारों के द्वारा अभीष्टार्थ की ऐसी प्रस्तुति/संगति है कि प्रस्तुत-अप्रस्तुत का भेद ही समाप्त हो जाता है, यथा -

तं णिय-णाणु जि होइ ण वि जेण पवड्डइ राउ।  
दिणयर-किरणहँ पुरउ जिय किं बिलसइ तम-राउ॥

2. 76

अर्थात् जैसे दिनकर की किरणों के सम्मुख अंधकार शोभा नहीं पाता, वैसे ही आत्मज्ञान में विषयों की अभिलाषा शोभा नहीं पाती।

भल्लाहँ वि णासंति गुण जहँ संसग्ग खलेहिं।  
वइसाणरु लोहहँ मिलिउ तें पिट्टियइ घणेहिं॥

2. 110

अर्थात् जैसे अग्नि लोहे के संसर्ग में पीटी-कूटी जाती है वैसे ही दोषों के संसर्ग से गुण भी मलिन हो जाते हैं।

अपने सामान्य अर्थों में भाषा वाचिक प्रतीकों की व्यवस्था है, किंतु गूढ़ तत्वों की अभिव्यक्ति इन सामान्य प्रतीकों से नहीं हो पाती; उन्हें पुनर्प्रतीकीकृत करना पड़ता है। प्रतीक-योजना के प्रमुख साधन उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति तथा सारोपा एवं साध्यवसाना लक्षण हैं। जोइंदु के काव्य में स्वतंत्र प्रतीकों का प्रयोग नहीं हुआ है, क्योंकि इन्हें परमार्थ-संबंधी ज्ञान को सहज, सरल, रोचक ढंग से जनमानस को संप्रेषित करना अभीष्ट था। इस दृष्टि से जोइंदु के प्रतीक अधिकतर रूपकों में व्यक्त हुए हैं, जो न केवल अभिप्रेतार्थ को सहज-गम्य बनाते हैं, अपितु तद्विषयक भावचित्र उपस्थित करने में भी सहायक सिद्ध होते हैं, यथा -

संसार	वल्ली	1. 32
देह	देवालय	1. 33
इंद्रिय	ग्राम	1. 44

भव	सागर	2. 105
यौवन	ब्रह्म	2. 117
जरा	उद्रेहिका	2. 133
इंद्रिय	करभक	2. 136
विषय	वन	2. 136
परमसमाधि	महासर	2. 189

रूपकों के अतिरिक्त जोइंदु ने उपमाओं का चयन भी अत्यंत सूझ-बूझ के साथ किया है, यथा -

कर्म	वज्र	1. 78
समभाव	नाव	2. 111

उन्होंने स्वतंत्र रूप से ऐसे प्रतीक का प्रयोग किया है, जिससे अभीष्टार्थ की समग्र प्रतीति होती है, यथा -

जीवहँ लक्खणु जिणवरहि भासिउ दंसण-णाणु।  
तेण ण किज्जइ भेउ तहँ जइ मणि जाउ विहाणु॥

2.98

यहाँ 'विहाणु' (विभात - सवेरा) 'ज्ञान' का प्रतीक है, जो सहज रूप से अज्ञानांधकार के निवारण की प्रक्रिया को व्यक्त करता है।

जोइंदु ने अपने काव्य में कतिपय ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जो अपभ्रंश-साहित्य में सर्वथा नवीन तो हैं ही, विलक्षण भी हैं। कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं

मुणि धवला योग. 68

मुनि अपने स्वभाव, आचरण, आदि से शुद्ध होते हैं। इस भाव को ज्ञापित करने के लिए जोइंदु ने यह प्रयोग किया है। 'धवल' के सहप्रयोग से 'मुनि' के अर्थ में कई गुनी वृद्धि हो जाती है। मुनि सांसारिक कालुष्य से कभी प्रभावित नहीं होते; उनके साहचर्य से कालुष्ययुक्त मनुष्य धवलता को प्राप्त करते हैं; वे तन और मन, अंतःकरण से निष्कलुष होते हैं; वे परमात्मा के चिरंतन दिव्य प्रकाश से प्रकाशित होते हैं; इत्यादि कितने ही अर्थ 'मुनिधवल' से व्यक्त होते हैं।

इसी प्रकार, वाक्य-स्तर पर भी उन्होंने नवीन अर्थ की उद्भावना की है -

एक्कलउ जइ जाइसिहिं तो परभाव चएहि।

( योग., 70 )

यहाँ 'स्व-पर' के भेद को बहुत ही कलात्मक ढंग से दूर करने का प्रयास उल्लेखनीय है। यदि मानव अकेला ही है, तो क्या अपना और क्या पराया?

निष्कर्ष यह है कि जोइंदु की अपभ्रंश तत्कालीन एवं तत्क्षेत्रीय लोकभाषा का उत्कृष्ट प्रतिदर्श है, जिसका प्रभाव परवर्ती अपभ्रंश-काव्यों में स्पष्टतः देखा जा सकता है। साथ ही,

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के विकास में जोइंदु की भाषा प्रमाण-स्वरूप प्रस्तुत करने में महत्वपूर्ण है। जिन देशी शब्दों का मूल अभी तक नहीं खोजा जा सका है, संभव है, उन्हें जोइंदु की अपभ्रंश की सहायता से खोजने में सफलता प्राप्त हो।

1. रवींद्रनाथ श्रीवास्तव, संरचनात्मक शैलीविज्ञान, दिल्ली, 1979, पृ. 130।
2. विंचेस्टर, सम प्रिंसिपल्स ऑफ़ लिटरेरी क्रिटिसिज़्म, न्यूयार्क, 1950, पृ. 231 में उद्धृत।
3. पाल वेलेरी, दि आर्ट ऑफ़ पोएट्री, अनु. डेनिस फोलियट, लंदन, 1958, पृ. 63।
4. रेने वेलेक, ए हिस्ट्री ऑफ़ माडर्न क्रिटिसिज़्म, भाग 2, लंदन, 1961, पृ. 40।
5. वी.के. गोकक, दि पोएटिक एप्रोच टू लैंग्वेज, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1952, पृ. 50।
6. राजेंद्र वर्मा, साहित्य-समीक्षा के पाश्चात्य मानदंड, भोपाल, 1970, पृ. 95।
7. सियाराम तिवारी, काव्यभाषा, मैकमिलन, 1976, पृ. 1-50।
8. टी.एस. इलियट, दि म्यूज़िक ऑफ़ पोएट्री, ऑन पोएट्री एंड पोएट्स, लंदन, 1965, पृ. 29।
9. रवींद्रनाथ श्रीवास्तव, शैलीविज्ञान और आलोचना की नई भूमिका, आगरा, 1972।
10. को. फ़ेदिन, लेखन-कौशल, (गोर्की, मयाकोव्स्की, तोलस्तोय, फ़ेदिन : लेखनकला और रचनाकौशल, हिंदी-अनु., अली अशरफ़) प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1977, पृ. 305।
11. देवकुमार जैन, जोइन्दु की भाषा, अप्रकाशित शोध-प्रबंध।

आधार-ग्रंथ, परमात्मप्रकाश एवं योगसार, जोइंदु, संपादक - ए. एन. उपाध्ये, बंबई, 1960।

डॉ. देवकुमार जैन

सहायक प्राध्यापक

शासकीय छत्तीसगढ़ महाविद्यालय

रायपुर, म.प्र.

डॉ. चितरंजनकर

रीडर,

भाषाविज्ञान-अध्ययन शाला

पं. रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय

रायपुर, म.प्र.

## हिन्दी साहित्य पर अपभ्रंश का प्रभाव

— जोहरा अफ़जल

•

सामान्यतः भारतीय भाषाओं के अन्तर्गत (इतिहास में) अपभ्रंश को 'अभीरों' की भाषा कहा जाता है। अपभ्रंश का अर्थ बिगड़ी हुई भाषा से भी लिया जाता है। ऐसा भी माना जाता रहा है कि पाँचवीं शती के आसपास अभीरों की एक जाति भारत में आ बसी थी। इस जाति का मुख्य व्यवसाय पशुपालन था। इन अभीरों ने यहाँ के समाज और भाषा को प्रभावित किया। इनकी भाषा में ग्रामीण शब्दों की प्रचुरता थी। आचार्य दण्डी ने अपने काव्यादर्श में लिखा है कि "काव्य में अभीरों की भाषा अपभ्रंश कही जाती है। अभीरों की यही अपभ्रंश कही जानेवाली ग्रामीण-भाषा राजभाषा और साहित्यिक भाषा के पद पर आसीन हुई" आचार्य राजशेखर ने भी अपभ्रंश कवियों का उल्लेख करते हुए अपनी 'काव्य मीमांसा' में लिखा है कि 'राजसभा में अपभ्रंश के कवियों के बैठने का स्थान पश्चिम में होता था'<sup>12</sup> इससे यह भी माना जा सकता है कि अपभ्रंश पश्चिमी प्रदेश की भाषा थी।

अपभ्रंश काव्य की स्थापना अधिकतर दोहा के रूप में हुई। इसका सबसे प्राचीन रूप जैन-साहित्य तथा सिद्ध-साहित्य में मिलता है। भाषा और विषय की दृष्टि से अपभ्रंश को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है -

1. जैन धर्म से सम्बद्ध काव्य,
2. सिद्धों और नाथ पंथियों का साहित्य,
3. फुटकर ग्रन्थ, सन्देश रासक, कीर्तिलता और कीर्तिपताका आदि।

अपभ्रंश साहित्य को हम इस प्रकार भी विभाजित कर सकते हैं - (क) पश्चिमी अपभ्रंश साहित्य और (ख) पूर्वी अपभ्रंश साहित्य। पश्चिमी अपभ्रंश साहित्य के अन्तर्गत राजस्तुती, शृंगार एवं वीरतामूलक दर्पोक्तियों की प्रधानता मिलती है तथा पूर्वी अपभ्रंश साहित्य में निर्गुण भक्तिपरक साहित्य के बीज छिपे हुए हैं। इन दोनों ही प्रकार के अपभ्रंश साहित्य का प्रभाव हिन्दी साहित्य पर सर्वथा दृष्टिगोचर होता है। हिन्दी साहित्य का अपभ्रंश साहित्य से अत्यन्त निकट का गहरा सम्बन्ध है। अपभ्रंश ने हिन्दी को दो प्रकार से प्रभावित किया है - (क) परम्परा से प्राप्त साहित्यिक निधि को हिन्दी तक पहुँचाकर और (ख) अपनी मौलिकताओं से हिन्दी को समृद्ध करके।

पुष्पदन्त ने राजस्तुति से दूर रह कर शुद्ध धार्मिक भाव से साहित्य रचना की है। साहित्य रचना की यह प्रवृत्ति अपभ्रंश से ही हिन्दी में भी आयी। पुष्पदन्त कवि कालिदास और बाण की परम्परा के अन्तर्गत आते हैं। भाषा, शैली और संगीत आदि का जो ऐश्वर्य कालिदास में मिलता है वह पुष्पदन्त में भी उपलब्ध होता है।

अपभ्रंश से हिन्दी का विकास होने के कारण जैन साहित्य का हिन्दी पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। हिन्दी के प्रायः सभी काव्य-रूप किसी न किसी रूप में अपभ्रंश से प्रभावित अवश्य हैं। अपभ्रंश के अनेक काव्य-रूप, काव्य-शैलियाँ हिन्दी में भी विकसित हुईं। हिन्दी में काव्य के लिए चरित शब्द का प्रयोग अपभ्रंश से ही आया है। हिन्दी साहित्य में रामचरित मानस, सुजानचरित, वीरसिंहदेवचरित आदि काव्य इसके उदाहरण हैं। हिन्दी साहित्य के आदिकालीन साहित्य - हम्मीर रासो, खुमान रासो, परमाल रासो तथा पृथ्वीराज रासो पर अपभ्रंश के परवर्ती चरित काव्यों का प्रभाव स्पष्ट है। हिन्दी के बीसलदेव रासो जैसे काव्यों पर अपभ्रंश के विरह काव्यों - सन्देशवाहक, भविसयत्तकथा आदि का प्रभाव भी स्पष्टतः देखा जा सकता है।

सूफी प्रेमाख्यानक काव्य भी अपभ्रंश से अत्यधिक प्रभावित दिखाई देते हैं। अपभ्रंश में इन प्रेमाख्यानों पर धर्म का आवरण था किन्तु हिन्दी साहित्य में ये प्रेमाख्यान आध्यात्मिक रूप से आवृत्त थे। सूफियों की कथाओं का अन्त आध्यात्मिकता में होता है, जबकि जैन कथाओं का अन्त वैराग्य में होता है, सूफी काव्यों में नायिका की प्राप्ति के लिए नायक को सिंहल द्वीप की यात्रा करवाई गयी है। यहाँ इन पर जो योग का प्रभाव है वह अपभ्रंश से ही लिया गया है।

मध्यकालीन हिन्दी काव्यों में प्रयुक्त दोहा-चौपाई-शैली का सूत्रपात अपभ्रंश साहित्य में हो चुका था। हिन्दी की मात्रिक छन्द और तुकान्त शैली अपभ्रंश की ही देन है। तुलसी और जायसी आदि कवियों ने अपने महाकाव्यों में अपभ्रंश की ही दोहा-चौपाई-शैली का अनुकरण किया है। संस्कृत काव्यों में रस की प्रधानता थी और अपभ्रंश काव्य में चरित्र-चित्रण की। हिन्दी साहित्य में इन दोनों पद्धतियों का समावेश हुआ है।

अपभ्रंश के सिद्धों और नाथों का प्रभाव मध्यकालीन सन्तों के काव्यों पर भी स्पष्ट दिखाई देता है। भक्तिकाल की चारों धाराएँ किसी न किसी रूप से अपभ्रंश से प्रभावित हैं। ज्ञानाश्रयी शाखा की मुख्य विशेषताएँ - निर्गुण की उपासना, रूपकों का प्रयोग, रहस्यवाद की भावना, गुरु की महत्ता, शान्त रस की अभिव्यक्ति, भावों की अभिव्यक्ति के लिए दोहों और पदों का

प्रयोग, सभी अपभ्रंश साहित्य के जैन धर्माचार्यों और सिद्धों की आध्यात्मिक उपदेशात्मक प्रवृत्तियों से प्रभावित हैं। जैनों की खंडन-मंडनात्मक शैली और वज्रयानियों की उलटवासियाँ भी यहाँ प्राप्त होती हैं।

कबीरदास पर अपभ्रंश का प्रभाव स्पष्टरूप से देखा जा सकता है -

दाढ़ी मूँछ मुड़ाये के, हुआ घोटम घोट।  
मन को क्यों नहीं मूँड़िये, जामे भरिया खोट॥

कुछ इसी प्रकार की बात अपभ्रंश के कवि रामसिंह ने भी 'पाहुडदोहा' में कही है -

मुंडिय मुंडिय मुंडिय सिर मुंडिउ चित्त ण मुंडिया।  
चित्तह मुंडणु जि कियउ संसारहं खंडणु तिं कियउ॥

इस प्रकार दोनों ने ही मन की शुद्धि पर बल दिया है। इसी प्रकार का 'चित्तशोधन' प्रकरण में वज्रयानी सिद्ध आर्य देव का वचन है -

प्रतरन्नपि गंगायां नैव श्वा शुद्धिमर्हति।  
तस्साद्धर्मधियां पुंसा तीर्थस्नानं तु निष्फलम्॥  
धर्मो यदि भवेत् स्नानात् कैवर्त्तानां कृतार्थता।  
वक्तं दिवं प्रविष्टानां मत्स्यादीनां तु का कथा॥<sup>१</sup>

इस प्रकार के भाव आगे भी सन्तों के द्वारा जनता तक पहुँचाए जाते रहे। जिसका एक उदाहरण प्रस्तुत है -

गंगा के नहाए कंहो को नरि तरिगे,  
मछरी न तरी जाको पानी ही में घर है।<sup>१</sup>

कबीरदास ने जाति-पाँति का खण्डन, गुरु की महत्ता, प्रेयसी-प्रियतम की भावना आदि को अपभ्रंश कवियों से ही ग्रहण किया है। इसके अतिरिक्त सन्तों ने जिन रूपकों का प्रयोग अपने काव्य में किया है, वे भी इन्हीं से लिये गये हैं।

लोकनायक महाकवि तुलसीदास के ग्रन्थ 'रामचरित मानस' पर भी अपभ्रंश काव्यों का प्रभाव स्पष्ट है। 'सन्देशरासक' और रामचरित मानस में प्रयुक्त कुछ छन्द तो एक दूसरे के अनुवाद प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिए हम सन्देशरासक की कुछ पंक्तियों को देख सकते हैं -

मह हिमयं रयण निही, महियं गुरु मंदरेण तं णिच्चं।  
उम्पुलियं असेसं, सुहरयणं कड़िडयं च तुह पिम्मे॥

अब रामचरित मानस का भी एक उदाहरण हम देख सकते हैं -

ब्रह्म पयोनिधि मंदर ग्यान संत सुर आहिं।  
कथा सुधा मथि काढहीं भगति मधुरता जाहिं॥

इसी प्रकार से कृष्ण-भक्ति शाखा भी इसके प्रभाव से अछूती नहीं रही है। कृष्ण-भक्त कवियों ने जिन रूपकों और उपमाओं का प्रयोग किया है वे अपभ्रंश साहित्य से ही ग्रहण किये

गये हैं। 'जहाज के पंछी' से मन की जो उपमा सूर ने दी है वह इसका ज्वलन्त प्रमाण है। सिद्धों के हठयोग की प्रतिक्रिया तुलसी के अतिरिक्त सूर में भी दिखाई देती है। जैसे -

बाह छोड़ाये जात हो निबल जानि के मोहि।  
हिरदै तै जब जाहुगे सबल जानूंगी तोहि॥

सूर के इस दोहे पर अपभ्रंश के निम्न दोहे का प्रभाव परिलक्षित होता है। बल्कि कभी तो ऐसा आभास होता है, मानो सूर ने अपने दोहे में निम्नलिखित दोहे का अनुवाद मात्र किया है -

बाह विछोड़वि जाहि तुहुं हउं तेवंई को दोसु।  
हिअय-टिद्अ जई नीसरहि जाणउं मुंजस रोष॥

आदिकाल और भक्तिकाल के अतिरिक्त जब हम रीतिकाल पर दृष्टिपात करते हैं तो आभास होता है कि यह काल भी अपभ्रंश के प्रभाव से अछूता नहीं रह पाया है। नयनंदी के 'सुदंसणचरित' के ऋतु-वर्णन, विवाह, नख-शिख सौन्दर्य, नायिका भेद, रीति आदि का रीतिकाल पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। रीति काव्यों की मुख्य रूप से विशेषता है आश्रयदाताओं का गुणगान। यह प्रवृत्ति अपभ्रंश साहित्य के चरित ग्रन्थों में उपलब्ध होती है। रीतिकाल के बारहमासे पर भी अपभ्रंश साहित्य का प्रभाव देखा जा सकता है।

हिन्दी साहित्य के आरम्भिक तीनों कालों पर तो अपभ्रंश का प्रभाव विशेषरूप से पड़ा है, किन्तु इस प्रभाव से आधुनिक काल भी नहीं बच पाया है। हाँ! इतना अवश्य कहा जा सकता है कि पाश्चात्य साहित्य से अधिक प्रभावित होने के कारण आधुनिक काल अपभ्रंश साहित्य से उतना अधिक प्रभावित नहीं हो पाया है, जितने कि अन्य तीनों काल।

'अपभ्रंश की सभी रचनाएं मुक्तक तथा प्रबन्ध केवल इन दो ही रूपों में प्राप्त होती हैं। मुक्तक रचनाओं में कहीं-कहीं शृंगार और वीर रस की सुन्दर रचनाएं भी मिलती हैं जिनसे तत्कालीन लोक-कथाओं पर भी प्रकाश पड़ता है। इन कथाओं में मुंज और मृणालवती की कथा आदि में पर्याप्त औपन्यासिक सामग्री प्राप्त होती है। इन्हीं कथाओं को श्री कन्हैयालाल मणिक लाल मुंशी ने गुजराती में 'पृथ्वीवल्लभ' तथा 'गुजरात के नाथ' उपन्यासों का आधार बनाया।'<sup>5</sup>

अपभ्रंश के काव्यरूपों और छन्दों का हिन्दी के काव्यरूपों और छन्दों पर गहरा प्रभाव पड़ा है। गेय काव्यों की दृष्टि से अपभ्रंश साहित्य बहुत अधिक समृद्ध था। अनुमान लगाया जाता है कि सम्भवतः 'सन्देश रासक' मूलतः रासक छन्द-प्रधान काव्य होगा। बाद में छन्द काव्य का पर्याय बन गया जिसका प्रयोग आदिकाल में वीरगाथाकाल की चारण रचनाओं के लिए किया गया। बाद में इसमें वीर रस को भी मिला लिया गया। अपभ्रंश साहित्य में इस प्रकार के कई रास काव्य हैं और हिन्दी में इसका उदाहरण पृथ्वीराज रासो है। हिन्दी साहित्य में कबीर, सूर, तुलसी और मीरा आदि ने पद लिखे हैं। पदों की परम्परा सिद्धों में मिलती है। सिद्धों के चर्चा पद गेय पद ही हैं। हिन्दी ने अपभ्रंश की जीवन्त परम्परा का भाषा और साहित्य दोनों ही क्षेत्रों में अविस्मरणीय विकास किया है। डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपभ्रंश साहित्य के महत्वपूर्ण योगदान को स्पष्ट करते हुए लिखा है - "इस प्रकार हिन्दी साहित्य में प्रायः पूरी परम्पराएं

प्यों की त्यों सुरक्षित हैं। शायद ही किसी प्रान्तीय साहित्य में ये सारी की सारी विशेषताएं इतनी मात्रा में और इस रूप में सुरक्षित हों। यह सब देखकर यदि हिन्दी को अपभ्रंश साहित्य से अभिन्न समझा जाता है तो इसे अनुचित नहीं कहा जा सकता। इन ऊपरी साहित्यरूपों को छोड़ भी दिया जाय तो भी इस साहित्य की प्राणधारा निरविच्छिन्न रूप से परवर्ती हिन्दी साहित्य में प्रवाहित होती रही है। . . . . प्रकृत यही है कि इन साम्यों को देखकर यदि हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों ने अपभ्रंश साहित्य को हिन्दी साहित्य का मूल रूप समझा तो ठीक ही किया।'<sup>6</sup>

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि हिन्दी साहित्य के किसी भी पक्ष, जैसे - काव्य रूपों, काव्य पद्धतियों, भाव पक्ष और कला पक्ष देखें तो उनमें सर्वत्र ही अपभ्रंश का प्रभाव थोड़ा-बहुत अवश्य देखने को मिल जायेगा। "हिन्दी एक जीवन्त भाषा है और वह अपभ्रंश की जीवन्त प्राणधारा तथा परम्परा को लेकर चली है। उसमें अपभ्रंश साहित्य की उद्भरणीमात्र प्रस्तुत नहीं की गई है। उसमें हिन्दी के साहित्यकार की विकासोन्मुख प्रतिभा, अपना ही पुट है जो कि सर्वथा अभिनन्दनीय है।'<sup>7</sup>

- 1-2. हिन्दी भाषा का इतिहास, डॉ. लक्ष्मी लाल वैरागी, पृ. 15-16, संधी प्रकाशन, 53, बापू बाजार, उदयपुर 313001।
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 12, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
4. वही
5. हिन्दी उपन्यास (ऐतिहासिक अध्ययन), डॉ. शिवनारायण श्रीवास्तव, पृ. 13, प्रकाशक, सरस्वती मन्दिर, जतनबर, वाराणसी के आधार पर।
6. हिन्दी साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ, डॉ. शिवकुमार शर्मा, पृ. 51-52, अशोक प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली-6।
7. हिन्दी साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ, डॉ. शिवकुमार शर्मा, पृ. 51-52, अशोक प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली-6।

प्रवक्ता व अध्यक्ष  
हिन्दी विभाग  
कश्मीर विश्वविद्यालय  
श्रीनगर (कश्मीर)



## कल्लोलुल्लोलहिं उव्वहन्ति

थोवन्तरेँ मच्छुत्थल्ल देन्ति । गोला-णइ दिट्ठ समुव्वहन्ति ।  
 सुंसुअर-घोर-घुरुघुरुहरन्ति । करि-मयरड्ढोहिय-डुहुडुहन्ति ।  
 डिण्डीर-सण्ड-मण्डलिउ देन्ति । दददुरय-रडिय-दुरुदुरुदुरन्ति ।  
 कल्लोलुल्लोलहिं उव्वहन्ति । उग्घोस-घोस-घवघवघवन्ति ।  
 पडिखळण-वलण-खलखलखलन्ति । खलखलिय-खलक्क-झडक्क देन्ति ।  
 ससि-सड्ढ-कुन्द-धवलोज्जरेण । कारणडुड्ढाधिय-डम्बरेण ।

घत्ता - फेणावलि-वड्ढिय वलयालड्ढिय णं महि-कुलवहुणअहेँ तणिय ।  
 जलणिहि-भत्तारहोँ मोत्तिय-हारहोँ वाह पसारिय दाहिणिय ।

- पउमचरिउ 31.3

थोड़ी दूर पर उन्हें (राम-लक्ष्मण को) मत्स्यों से उछाल देती हुई और बहती हुई गोदावरी नदी दिखाई दी। शिशु-मारों के घोर घुर-घुर शब्द से घुरघुराती हुई, गज और मगरों से आलोड़ित डुह-डुह करती हुई, फेनसमूह का मण्डल देती हुई, मेंढकों की रटन्त से टुर-टुर करती हुई, लहरों के उल्लोल से बहती हुई, उद्घोष के घोष से घब-घब करती हुई; प्रतिस्खलन और मुड़ने से खल-खल करती हुई, जिसने हंसों को उड़ाने का आडम्बर किया है, ऐसे चन्द्र, शंख और कुन्द पुष्प के समान धवल निर्झर से स्खलित चट्टानों को झटका देती हुई, जिसके पास मोती का हार है, ऐसे समुद्ररूपी पति के लिए प्रसारित फेनावलि से वक्र तथा वलय से अंकित जो मानो धरतीरूपी कुलवधू की दायीं बाँह हो ।

- अनु. डॉ. देवेन्द्रकुमार जैन

## मुनि रामसिंह कृत 'दोहा पाहुड' का भाषा-वैज्ञानिक विश्लेषण

— श्रीमती आभारानी जैन

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं और पूर्व भारतीय आर्यभाषा की बीच की कड़ी का नाम 'अपभ्रंश' है। ऐतिहासिक दृष्टि से अपभ्रंश साहित्य का युग 7वीं ई. से 12वीं ई. तक माना जाता है, वैसे तो बोल-चाल के रूप में इस भाषा का उल्लेख काफी समय पहले से ही मिलता है।<sup>1</sup> व्याकरण की दृष्टि से अपभ्रंश का विश्लेषण प्राकृत के संदर्भ में हुआ क्योंकि वैयाकरण प्रायः उसे प्राकृत ही समझते थे।<sup>2</sup> यह भी स्मरणीय है कि जिस प्रकार प्राकृत का व्याकरण संस्कृत के आधार पर लिखा जाता रहा है उसी प्रकार अपभ्रंश का प्राकृत के आधार पर। तथापि भारतीय साहित्य में अपभ्रंश भाषा का साहित्य ही एकमात्र ऐसा साहित्य है, जिसमें सृजन अत्यन्त विस्तृत रूप में हुआ, पर उसका अनुसंधान एवं प्रकाशन सृजन के समक्ष नगण्य प्रायः है। अतः इस विधा में अनुसंधान की प्रचुर सम्भावनाएं उपलब्ध हैं।

अपभ्रंश भाषा के साहित्य में चरित्रकाव्य, कथाकाव्य आदि पारम्परिक विधाओं के अतिरिक्त स्फुट आध्यात्मिक रचनाओं को प्रायः 'दोहा संग्रहों' के नाम से जाना जाता है। यद्यपि उक्त स्फुट रचनाओं का दार्शनिक, आध्यात्मिक तथा भाषा-विज्ञान के दृष्टिकोण से अत्यधिक महत्व है, लेकिन इन पर अभी तक कोई विशेष शोध-प्रबन्ध नहीं लिखा गया है।

अपभ्रंश का ऐसा ही एक आध्यात्मिक ग्रन्थ 'पाहुड दोहा' या 'दोहा पाहुड' नाम से प्राप्त होता है।<sup>3</sup> कतिपय विद्वान इसका नाम 'पाहुड दोहा' कह कर उसके विविध शब्दार्थ प्रस्तुत करते

हैं तो कुछ विद्वानों ने इसे 'दोहा पाहुड' भी कहा है।<sup>7</sup> प्रथम नामकरण के अनुसार 'पाहुड दोहों का' तथा अन्यानुसार 'दोहों का पाहुड' ऐसा सुगम एवं व्यावहारिक विग्रह निष्पन्न होता है। वैसे यदि जैन दर्शन के 'पाहुड' नामवाले ग्रन्थों का अवलोकन करें तो लगभग सम्पूर्ण 'पाहुड'-परम्परा में ग्रन्थों के नामकरण 'पाहुडान्त' हुए हैं, यथा - समयपाहुड' व भावपाहुड (कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित) इत्यादि। अतः 'पाहुड' ग्रन्थों की परम्परा एवं व्याकरण की संगति के अनुसार मुझे ग्रन्थ का नाम 'दोहा-पाहुड' अधिक सुसंगत प्रतीत होता है।

ग्रन्थ के नामकरण के समान ही ग्रन्थकर्ता के बारे में भी पर्याप्त विवाद विद्वत-परम्परा में विद्यमान है।<sup>8</sup> प्रमुख विवाद 'दोहा पाहुड' ग्रन्थ के जोइन्दु (योगीन्दु) कृत होने का है किन्तु उपलब्ध प्रमाणों के गहन अध्ययन के उपरान्त मेरी यह स्पष्ट अवधारणा है कि दोहा-पाहुड ग्रन्थ की रचना योगीन्दु ने नहीं, अपितु मुनि रामसिंह ने ही की है। इनमें सर्वप्रमुख प्रमाण है - मूलग्रन्थ, उसकी पुष्पिका में ग्रन्थकर्ता का नाम 'रामसीहमुणि' प्राप्त होता है।<sup>9</sup>

'दोहा पाहुड' ग्रन्थ को योगीन्दु कृत कहने में विद्वानों के सामने तीन प्रमुख प्रमाण उपलब्ध थे -

1. जोइन्दु (योगीन्दु) के ग्रन्थों के कई दोहे यथावत् रूप में अथवा किञ्चित् परिवर्तन के साथ 'दोहा पाहुड' में उपलब्ध हैं।<sup>8</sup>

2. प्रस्तुत ग्रन्थ की कतिपय प्रतियों में ग्रन्थकार का नाम योगेन्द्र अथवा योगीन्द्र आया है।<sup>9</sup>

3. योगीन्दु के दो प्रमुख ग्रन्थों की भाषा एवं विषय का 'दोहा पाहुड' की भाषा एवं विषय से प्रचुर साम्य है।<sup>10</sup>

विशेषतः उक्त तीन कारणों से ही विद्वानों ने 'दोहा पाहुड' को जोइन्दु (योगीन्दु) कृत माना है किन्तु निम्नलिखित तथ्यों के आधार पर ये प्रमाण सबल प्रतीत होते हुए भी, अन्तिम रूप से निर्णायक सिद्ध नहीं हो पाते हैं -

1. कोई भी ग्रन्थकार अपने द्वारा रचित दोहों की पुनरावृत्ति या पिष्टपेषण से बचना चाहता है।

2. लिपिकारों द्वारा दिए गए नाम कभी भी अन्तिम रूप से प्रमाण नहीं माने जा सकते हैं।

3. अन्य ग्रन्थकार प्रायः पूर्ववर्ती ग्रन्थकारों के ग्रन्थों के उद्धरण अथवा उनका यथावत् अनुसरण करते आये हैं तथा भाषा-शैली एवं विषयगत साम्य संयोगवश भी हो सकते हैं।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पूर्वोक्त तीन बिन्दुओं के आधार पर 'दोहा पाहुड' को योगीन्दु की रचना मानना उचित नहीं है।

एक अन्य सम्भावना की ओर भी ध्यान जाता है कि मुनि रामसिंह और योगीन्दु मुनि एक ही व्यक्ति के दो नाम रहे हों।<sup>11</sup> रामसिंह पहले का नाम होगा और जब वे मुनि हो गये होंगे तो उनका नाम योगीन्दु मुनि हो गया होगा। लेकिन 'दोहा-पाहुड' ग्रन्थ में 'राम सीहमुणि इम

भणइ' यह वाक्य है जिससे स्पष्ट है कि 'रामसिंह' और 'योगीन्दु मुनि' एक ही व्यक्ति नहीं है तथा ग्रन्थकार ने अपने नाम के साथ जो 'मुणि' शब्द का प्रयोग किया है वह तो दीक्षा-उपरान्त ही नाम के साथ प्रयुक्त किया जाता है, किसी गृहस्थ-व्यक्ति के नाम के साथ यह शब्द (मुनि) नहीं लगाया जाता है। गहन अनुशीलन एवं अनुसंधान के पश्चात् हम इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि मुनि रामसिंह और योगीन्दु एक ही व्यक्ति नहीं, दो भिन्न व्यक्ति हैं और दोनों में पर्याप्त समयभेद भी है। मुनि रामसिंह 'सावयधम्म दोहा' के रचयिता देवसेन (वि. सं. 990, 937 ई.) और 'शब्दानुशासन' के रचयिता हेमचन्द्र (सन् 1100) के बीच सन् 1000 ई. के लगभग हुए।<sup>12</sup>

इस तथ्य के साथ ही योगीन्दु के पक्ष में दिए गए दोहों के उद्धरण आदि प्रमाण भी स्वतः इस बात की पुष्टि करते हैं कि योगीन्दु मुनि रामसिंह के पूर्ववर्ती थे एवं 'दोहा पाहुड' की रचना के समय योगीन्दुकृत 'परमात्मप्रकाश, योगसार' आदि ग्रन्थ उनके समक्ष उपलब्ध थे। साथ ही योगीन्दु छठी शताब्दी ई. के विद्वान हैं और 'दोहा पाहुड' की रचना दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में हुई।<sup>13</sup> यह तथ्य उगे हुए सूर्य की भांति यह स्वतः प्रमाणित करता है कि 'दोहा पाहुड' मुनि रामसिंह की ही रचना है। 'दोहा पाहुड' जैसी उत्कृष्ट अपभ्रंश साहित्यिक कृति पर भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से कोई विशेष कार्य आज तक सम्पादित नहीं हुआ है, अतः उसमें प्रयुक्त अपभ्रंश भाषा के भाषा-शास्त्रीय अध्ययन की प्राथमिक चेष्टा प्रस्तुत निबन्ध में की गयी है।

अपभ्रंश के बारे में प्रथम उल्लेख महर्षि पतञ्जलि के महाभाष्य में प्राप्त होता है, वहाँ उन्होंने कहा है कि एक-एक शब्द के कई-कई अपभ्रंश हैं।<sup>14</sup> इसके उपरान्त भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में कतिपय अपभ्रंश शब्दों का प्रयोग किया।<sup>15</sup> किन्तु अपभ्रंश भाषा का साहित्यिक रूप पांचवीं शताब्दी से प्राप्त होता है और छठी शताब्दी से आचार्य जोइन्दु (योगीन्दु) के द्वारा अपभ्रंश साहित्य सुगठित रूप लेने लगा। आठवीं-नवीं शताब्दी तक यह क्रम चला।

अपभ्रंश भाषा एवं साहित्य का वास्तविक उत्कर्ष-काल ई. की 9वीं शताब्दी से 15वीं शताब्दी तक रहा। इस समय अपभ्रंश भाषा पूर्ण विकसित एवं सुगठित रूप ले चुकी थी तथा इसका साहित्य भी बहु-आयामी हो गया था, चूँकि मुनि रामसिंह का काल ई. की 10वीं-11वीं शताब्दी अनुमानित है, अतः स्पष्ट है कि मुनि रामसिंह के साहित्य में भी अपभ्रंश भाषा का रूप अपने उत्कर्ष युग के अनुरूप ही होना चाहिए। मुनि रामसिंह कृत 'दोहा पाहुड' में अपभ्रंश भाषा का अनुशीलन निम्न प्रकार है -

मुनि रामसिंह कृत 'दोहा पाहुड' में अपभ्रंश भाषा सम्मत शब्दरूपों एवं धातुरूपों के सामान्य प्रयोग तो प्राप्त होते ही हैं जो कि अपभ्रंश व्याकरण के निर्दिष्ट प्रयोगों के अनुसार ही हैं किन्तु कतिपय विशिष्ट प्रयोग भी इसमें प्राप्त होते हैं जिन्हें शब्दरूप, धातुरूप, कृदन्त, अव्यय, देशी शब्द तथा अन्य प्रयोग इन छः वर्गों में विभाजित कर उनका संक्षिप्त विश्लेषण प्रस्तुत किया जा रहा है -

#### शब्दरूप

शब्दरूपों में दोनों तरह के प्रयोग अपभ्रंश व्याकरण के अनुसार 'दोहा पाहुड' में उपलब्ध हैं -

1. विभक्तिवाले प्रयोग
2. परसर्गयुक्त प्रयोग।

विभक्ति-प्रयोग में ही द्वितीया एवं सप्तमी के प्रयोगों में कुछ वैशिष्ट्य परिलक्षित होता है। यथा - 'आयाइं' अर्थात् 'आपत्ति में' (पद्य-6), इसमें 'इं' प्रत्यय का प्रयोग सप्तमी अर्थ में हुआ है। इसी प्रकार 'धंधइं' (पद्य-7) में भी 'इं' प्रत्यय सप्तमी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जबकि (पद्य 5) 'हियडइं', (पद्य-7) 'कम्मइं' में यही प्रत्यय द्वितीया के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार एक ही पद्य में 'इं' प्रत्यय का सप्तमी और द्वितीया दोनों के अर्थ में भी प्रयोग प्राप्त होता है (पद्य-47)। पद्य-70 में 'मत्थइं सिंगइं होति' अर्थात् माथे पर सींग होते हैं इस वाक्य में 'मत्थइं' शब्द में सप्तमी प्रयोग, 'सिंगइं' में द्वितीया प्रयोग निष्पन्न हुआ है तथा 'वट्टडिया' अर्थात् 'मार्ग पर' विशिष्ट सप्तमी प्रयोग है।

विभक्ति के अतिरिक्त शब्द के प्रत्ययसहित परसर्ग के प्रयोग भी इसमें प्राप्त होते हैं। यथा - पद्य-36 में - 'कम्महं केरउ' में 'कम्महं' शब्द में 'हं' प्रत्यय प्रयोग होने के उपरान्त भी 'केरउ' इस षष्ठी-अर्थक परसर्ग का प्रयोग हुआ है।

#### धातुरूप-प्रयोग

शब्दरूपों की अपेक्षा क्रियापदों (धातुरूपों) में अधिक वैविध्य प्राप्त होता है। जैसे - 'फिट्टइ' (पद्य-2) यह एक विशिष्ट क्रियापद है। इसी प्रकार 'वडवडइ' अर्थात् बड़बड़ता है (पद्य-6) जैसे लोक-जीवन के क्रियापद भी प्राप्त होते हैं। क्रिया के वैशिष्ट्य के अतिरिक्त क्रियारूपों के वैशिष्ट्य भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। यथा - 'मुक्की' अर्थात् छोड़ देता है (पद्य-15) में अनियमित क्रिया प्रयोग है। 'झखाइं' अर्थात् संताप पहुंचा (पद्य-131) में विशिष्ट-क्रियापद का प्रयोग प्राप्त होता है।

निषेधात्मक क्रियापद प्रयोगों में भी कहीं-कहीं छन्द के अनुरोध से और कहीं-कहीं सहज ही वैविध्य प्राप्त होता है। यथा - क्रियापद के साथ निषेध-सूचक 'मा' उपपद का प्रयोग किया जाता रहा है, किन्तु 'दोहा पाहुड' में 'मा' के स्थान पर 'मं' (पद्य-13) तथा 'म' (पद्य-17 म-वाहि-मतमार) इन उपपदों का प्रयोग प्राप्त होता है।

इसी प्रकार पद्य-155 में 'जंतउ-वारि' अर्थात् जाने से रोको यह आज्ञार्थक क्रिया-पद तथा उसी में 'भंजेसइ' अर्थात् भंग कर देगा व 'पडिसइ' (पड़ेगा), यह भविष्यतकालीन विशिष्ट क्रिया-प्रयोग है तथा पद्य-19 में सम्भावना-सूचक आसन्न भविष्य के अर्थ में 'विढप्पइ' इस वर्तमान-कालिक क्रियापद का प्रयोग हुआ है।

#### कृदन्त-प्रयोग

'दोहा-पाहुड' में क्रिया-स्थानीय कृदन्त प्रयोग भी वैविध्यपूर्ण उपलब्ध हैं। यथा - 'आभुंजता' (पद्य-4) में 'आइ' उपसर्गपूर्वक, वर्तमानकालिक कृदन्त का प्रयोग बिल्कुल संस्कृत के समान ही हुआ है। तथा 'गिरत्थ गय' इसमें 'गय' इस भूतकालिक कृदन्त पद का यहाँ वर्तमान काल अर्थ में प्रयोग किया गया है।

### अव्यय-प्रयोग

इसमें बहुविध अव्यय-प्रयोग प्राप्त होते हैं। यथा - 'वप्पुडउ' अर्थात् बेचारा (पद्य-5), 'अडवड' अर्थात् अटपटा (पद्य-6), 'अण्णु कि' अर्थात् तो और क्या (पद्य-70) जैसे अव्यय प्रयोगों के अतिरिक्त 'अम्मि' (पद्य-51) आश्चर्यसूचक अव्यय तथा 'जि', 'इ' ये दो निश्चयार्थक अव्यय भी प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार पद्य-108 में 'पुत्ति' अर्थात् पुत्रि के 'अम्मि' के सदृश सम्बोधनार्थ अव्यय-सा प्रतीत होता है।

### देशी प्रयोग

अपभ्रंश भाषा तो अपने विशिष्ट देशी प्रयोगों के द्वारा ही जानी जाती है। 'दोहा-पाहुड' में 'शिथिल' के अर्थ में 'दिल्लुड' (पद्य-43), 'काँटा' के लिए 'सल्लडा' (पद्य-74), 'स्पृश्य-अस्पृश्य' के लिए 'छोपु-अछोपु', (पद्य-139), लज्जावान शब्द के लिए 'धंधवालु' (पद्य-122) जैसे विशिष्ट-देशी प्रयोग प्राप्त होते हैं। वहीं पद्य क्रमांक 113 में 'भियमडा' जैसे विशिष्ट देशी शब्द का प्रयोग भी प्राप्त है, जिसका अर्थ अघावधि अज्ञात ही है।

### अन्य प्रयोग

पूर्वोक्त विविध प्रयोगों के अतिरिक्त कतिपय लोकोक्तियों के विशिष्ट प्रयोग इसमें हैं, जैसे - पद्य-21 में 'डाल से चूके बन्दरों के समान' के लिए 'पलंबचुय-बहुय', इसी प्रकार पद्य-97 में 'उस एक अक्षर को पढ़ो, जिससे शिवपुर गमन हो' प्रयुक्त इस वाक्य की तुलना कबीर के 'ढाई अक्षर प्रेम का पढ़े, सो पण्डित होए' से की जा सकती है तथा पद्य-155 की शब्दावली एवं भाव की 'मृच्छकटिकम्' नाटक में एक नाई के बौद्ध-भिक्षु बन जाने पर उसके द्वारा दिए गए उपदेश में आश्चर्यजनक समानता है।<sup>16</sup> इसी प्रकार लोकोक्तियों एवं तुलनात्मक प्रयोगों के अतिरिक्त, कतिपय विशिष्ट प्रयोग भी इसमें प्राप्त होते हैं। यथा - 'एकल्लउ' अर्थात् अकेला (पद्य-75), संधुक्ती अर्थात् स्फुलिंग (पद्य-87) जैसे प्रयोग भी उपलब्ध हैं। पद्य-184 में 'सयलीकरण' अर्थात् 'सकलीकरण' एक विधान है, जो देवाराधना, देवप्रतिष्ठादि में विघ्नशान्ति के हेतु किया जाता है। इसी प्रकार 'खवणअ' से 'क्षपणक' अर्थात् 'दिगम्बर', 'सेवड' से 'श्वेताम्बर' का अभिप्राय है। साथ ही हिन्दी कविता जैसे तुकान्त प्रयोग वैसे तो पूरे ही ग्रन्थ में उपलब्ध हैं किन्तु पद्य क्रमांक 139-140 आदि में विशेषरूप से दृष्टव्य हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'दोहा-पाहुड' ग्रन्थ में अपभ्रंश भाषा के अनेकविध विशिष्ट प्रयोग प्राप्त होते हैं जो कि भाषा-शास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि से बहु-उपयोगी उपादान बन सकते हैं।

1. डॉ. जैन देवेन्द्रकुमार, अपभ्रंश भाषा और साहित्य, ग्रन्थांक - 152, प्रथम संस्करण - 1966, पृष्ठ सं. 42।
2. वही, पृष्ठ संख्या 26।
3. डा. सिंह वासुदेव, अपभ्रंश और हिन्दी में जैन-रहस्यवाद, प्रथम संस्करण, संवत् - 2022, पृष्ठ सं. 51।

4. 'मुनि रामसिंह' विरचित 'पाहुड दोहा', डा. हीरालाल जैन, वि. संवत् 1990, पृष्ठ संख्या 13 ।
5. डा. सिंह वासुदेव, वही, पृष्ठ संख्या 51-52 ।
6. वही, पृष्ठ संख्या 48 से 51 ।
7. पाहुड दोहा, पद्य क्रमांक 211, 'रामसीहमुणि इम भणइ' ।
8. दृष्टव्य - 'परमात्मप्रकाश' का पद्य क्रमांक - 8 और 'योगसार' का पद्य क्रमांक - 108 ।
9. मुनि रामसिंह, 'पाहुड दोहा', भूमिका, पृष्ठ सं. 11 ।
10. 'पाहुड दोहा' की भूमिका, पृष्ठ सं. 26 ।
11. डा. सिंह वासुदेव, अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद, प्रथम संस्करण, संवत् - 2022, पृष्ठ सं. 53 ।
12. डा. शर्मा, रामगोपाल 'दिनेश', अपभ्रंश भाषा का व्याकरण और साहित्य, प्रथम संस्करण, सन् 1982 ।
13. डा. जैन देवेन्द्रकुमार, अपभ्रंश भाषा और साहित्य, ग्रन्थांक - 152, प्रथम संस्करण - 1966 पृष्ठ सं. - 81 ।
14. महाभाष्य (निर्णय सागर प्रेस, मुंबई), एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः ।
15. भरतमुनि, नाट्यशास्त्र (चौखम्बा संस्कृत सीरीज), 17/49-50 ।
16. पाहुड दोहा - अम्मिय इहु मणु हत्थिया विइत्र जंतइ वारि।  
तं गंणेसइ सीलवणु पुणु पडिराइ संसारि ॥155 ॥

तुलना

मृच्छकटिकम् - शिल मुंडिदे, तुंड मुंडिदे  
चित्त म मुंडिदे, कीश मुंडिदे ॥

वाई-343, सरोजनी नगर  
नई दिल्ली - 23

## अपभ्रंश कथा सौरभ

- डॉ. कमलचन्द सोगाणी

•

अपभ्रंश भारती के द्वितीय अंक में विद्यार्थियों के अध्ययन एवं अभ्यास हेतु प्राकृत कथाओं से अपभ्रंश में अनुवादित दो कथाएं - (1) अमंगलिय पुरिसहो कहा तथा (2) विउसीहे पुत्तबहूहे कहाणगु, हिन्दी अनुवादसहित प्रकाशित की गई थीं। उसी क्रम में इस अंक में भी अपभ्रंश में अनुवादित दो कथाएं - (1) गामिल्लउ सागडिउ तथा (2) गेहिसूरु हिन्दी अनुवादसहित प्रकाशित की जा रही हैं ।



## गामिल्लउ सागडिउ

अत्थि कोइ कहिं गामिल्लउ गहवइ परिवसइ। सो अण्णया धण्णभरिउ सगडु लेविणु पंजरगउ तित्तिरी सगडि बंधेवि नयरु पड्डिउ। सो नयरगउ य गंधियपुत्तहिं देखिखउ। सो तहिं पुच्छिउ - किं एहु तुज्ज पंजरए ?

तेण लविउ - तित्तिरु त्ति।

तइयहुं तहिं लविउ - किं इमु सगडतित्तिरी विक्कज्जइ ?

तेण लविउ - आमं, विक्कज्जइ।

तहिं भणिउ - किं लब्भइ ?

सागडिएण भणिउ - काहावणेणं।

तइयहुं तहिं काहावणु दिण्णु, सगडु-तित्तिरु च गहेवं पवत्ता।

तइयहुं तेण सागडिएणं भण्णइ-कीस एहु सगडु नेहि ?

तहिं भणिउ - मोल्लेणं लइय।

तइयहुं ताहं ववहारु जाउ। सो सागडिउ जिउ। सो सगडु तित्तिरीएं सहं हिउ। जसु सगड-उवगरणु हिय सो सगडिउ जोग-खेम निमित्तु आणिउ बइल्लु गहेवि विक्कोसमाणु गउ।

अण्णे कुलपुत्ते देखिखअ, पुच्छिउ य - कीस विक्कोससि ?

तेण लविउ - सामि ! एम संधिउ हउं।

तइयहुं तेण साणुकंपे भणिउ - ताहं चेव गेहु वच्च, 'एम च भणहि' त्ति।

## ग्रामीण गाड़ीवान

कोई ग्रामीण गृहपति था (जो) कहीं (गाँव में) रहता था। एक बार उसने धन से भरी हुई गाड़ी को लेकर और पिंजरे में रखे हुए तीतर को गाड़ी में बाँधकर नगर को प्रस्थान किया। (वह) नगर में गया और गंधी-पुत्रों द्वारा देखा गया। वह उनके द्वारा पूछा गया - तुम्हारे पिंजरे में यह क्या है ?

उसके द्वारा कहा गया - तीतर।

तब उनके द्वारा कहा गया - क्या यह गाड़ी में (रखा हुआ) तीतर बेचा जाएगा (बेचा जाता है) ?

उसके द्वारा कहा गया - हाँ, बेचा जायगा।

उनके द्वारा कहा गया - क्या प्राप्त किया जायगा ?

गाड़ीवाले के द्वारा कहा गया - एक कार्षापण (सिक्के) से बेचा जायगा।

तब उनके द्वारा एक कार्षापण दिया गया, (वे) गाड़ी और तीतर को ग्रहण करने के लिए प्रवृत्त हुए।

तब उस गाड़ीवाले के द्वारा कहा गया - (तुम) यह गाड़ी क्यों ले जाते हो ?

उनके द्वारा कहा गया - मोल से ली गई (है)। तब उनका फैसला हुआ। वह गाड़ीवाला जीत लिया गया। तीतर के साथ वह गाड़ी ले आई गई। जिसका गाड़ीरूपी साधन ले आया गया वह गाड़ीवान योग-क्षेम के लिए लाये गये बैल को लेकर रोता हुआ गया।

(वह) दूसरे कुलपुत्र के द्वारा देखा गया और पूछा गया - (तुम) क्यों रोते हो ?

उसके द्वारा कहा गया - हे स्वामी ! मैं इस प्रकार ठगा गया।

तब उसके द्वारा दयासहित कहा गया - उनके ही घर को जा और इस प्रकार कह।

तइयहुं सो तं वयणु सुणि गउ गमेवि य तेण ( ते ) भणिया - सामि ! तुम्हेहिं महुं भंडभरिउ सगडु हिउ, तावेहि इमु पि बइल्लु गेणहह। महु पुणु सत्तुया दुपालिया देह, तं गहेप्पि हउं वच्चउं। हउं जासु व कासु व हत्थे णउ गहउं। जा तुज्झ घरिणी पाणेहिं वि पिययरी सब्वालंकारभूसिया ताए दायव्वा, तावेहिं महु परु तुट्ठी भवेसइ। हउं अप्पाणु जीवलोगब्भंतरु मन्नेसउं।

तावेहिं तहिं सक्खी आहूया, भणिउ च - 'एम होउ।'

ताम ताहं पुत्तमाया सत्तुया दुपालिया गहेविणु णिगगया, तेण सा हत्थे गहिया। तं गहेविणु पट्टिउ।

तेहिं भणिउ - किं एहु करेसि ?

तेण भणिउ - सत्तुया दुपालिया नेउं।

तइयहुं ताहं सहे महाजणु संगहिअ - ( ते ) पुच्छिया - किं एहु ?

तेहिं जहावत्तु सव्वु परिकहिउ। समागयजणेण ववहारणिच्छउ मज्झत्थेणं सुणिउ। पराजिआ ते गंधियपुत्ता। किलेसेण सा महिला मोयाविउ। सगडु अत्थेण बहुएण सहं परिदिण्णु।

तब वह उसके वचन को सुनकर गया और जाकर उसके द्वारा कहा गया - हे स्वामी! तुम्हारे द्वारा मेरी वस्तुओं से भरी हुई गाड़ी ले ली गई है, तो यह बैल भी आप लेलें। (और) मेरे लिए दो पाली (कटोरी) सत्तू दे दें, उसको लेकर मैं (चला) जाऊँगा। मैं जिस-किस के हाथ से ग्रहण नहीं करूँगा। सब अलंकारों से भूषित प्राणों से भी अधिक प्यारी जो तुम्हारी पत्नी है उसके द्वारा दिया जाना चाहिए। तब मेरी उत्तम तुष्टी होगी। मैं अपने को जीवलोक में (भाग्यशाली) मानूँगा।

तब उनके द्वारा गवाह बुलाए गये और कहा गया - 'इस प्रकार होवे।'

तब उनके पुत्रों की माता दो पाली सत्तू लेकर निकली, वह उसके द्वारा हाथ से पकड़ ली गई। वह उसको पकड़कर चला।

उनके द्वारा कहा गया - यह क्या करते हो ?

उसके द्वारा कहा गया - मैं दो पाली सत्तू ले जाता हूँ।

तब उनकी आवाज से (किसी के द्वारा) महाजन-समूह एकत्र किया गया, वे पूछे गये - यह क्या है ?

उनके द्वारा जैसा हुआ सब कह दिया गया। आये हुए महाजन-समूह से न्याय का निश्चय तटस्थतापूर्वक सुना गया। वे गंधीपुत्र पराजित हुए। वह महिला कठिनाई से छुड़वाली गयी। बहुत धन के साथ गाड़ी लौटा दी गई।

---

## गेहि सूरु

एक्कहिं गामे एक्कु सुवण्णयारु वसइ। तासु रायपहहो मञ्जुभाए हट्टिगा (हट्टी) विज्जइ। सया मञ्जरत्तिहिं सो सुवण्णभरिउ मंजूसा गहेप्पिणु नियघरि आगच्छइ। एक्कया तासु भज्जाए चिंतिउ-एहो महु भत्तारु सया मंजूसा गहेप्पिणु मञ्जरत्तिहिं गेहि आगच्छइ, तं ण वरु । जावेहिं कयावि मग्गे चोरा मिलेसंति तावेहिं किं होसइ ? तइयहुं ताए नियभत्तारु वुत्तु - "हे पिउ ! मञ्जरत्तिहिं तउ गिहे आगमणु णवि सोहणु ति। मञ्जुभाए कयावि को वि मिलेसइ तइयहुं किं होसइ ?" सो कहेइ - "तुहुं महु बलु णहि जाणहि, तेण एव बोल्लसि। महु अग्गए नरसउ पि आगच्छेसहि ते किं करेसहि मञ्जु अग्गए ते किं वि करेवं णउ समत्था। तइं भउ णउ करिएव्वउं।" एम सुणिवि ताए चिंतिउ-गेहि सूरु महु पिउ अत्थि, समए तासु परिक्खा करेसउं।

एक्कया सा नियघर समीववासिणीहे खत्तियाणीहे घरि गमेप्पिणु कहेइ - "हे पियसहि ! तुहुं तुज्ज भत्तारहो सव्वु वत्थभूसु मञ्जु अप्पि, महु किं पि पओयणु अत्थि ।" ताए खत्तियाणी अप्पहो पिआसु असिसहिअ सिरवेढण, कडिपट्टाइ, सुहडवेसु सव्वु समप्पिउ। सा गहेवि गेहि गया।

जइयहुं रत्तिहिं एक्कु जामु गउ, तइयहुं सा तं सव्वु सुहडवेसु परिहाइ, असि गहेप्पि निस्संचारे रायपहे निग्गया। पिअहो हट्टाहु नाइदूरे रुक्खसु पच्छा अप्पाणु आवरेविणु ठिआ। किंचि काले सो सोण्णारो हट्टु संवरेवि, मंजूसा च हत्थेण गहेप्पिणु सो भयभंतो एत्तहे-तेत्तहे पासंतु झत्ति गच्छंतु जावेहिं तासु रुक्खसु समीउ आगउ, तावेहिं पुरिसवेसधारिणी सा अत्थकए नीसरवि भउणें तं निब्बच्छेइ - हुं, हुं, सव्वु मुंचि, अण्णहा मारिहिउं। सो सहसत्ति रुंधिउ, भएण थरथरंतो 'मइं ण मारेसु, मइं ण मारेसु' एम कहेप्पि मंजूसा अप्पिआ। तओ ( तो ) तइयहु सा सव्व परिहिअवत्थगहणास्सु करवाल-अग्गु तासु वच्छि ठिवि वसणाइं पि कड्ढावेइ। ताम सो परिहियकडिपट्टयमेत्तो जाओ। तओ ( तो ) सा कडिपट्टय पि मरणभय दंसावि कड्ढावेइ। सो एवहिं जाओ इव नग्गु जाउ। सा सव्वु गहिवि घरि गया, घरदारु पिहेवि अंतो थिआ।

## घर में शूर

एक गाँव में एक स्वर्णकार रहता था। राजपथ के मध्यभाग में उसकी दुकान थी। वह सदा मध्यरात्रि में सोने से भरी हुई पेटी को लेकर निजघर में आता था। एक बार उसकी पत्नी के द्वारा सोचा गया - यह मेरा पति पेटी को लेकर सदैव मध्यरात्रि में घर में आता है, वह ठीक नहीं है। जब कभी मार्ग में चोर मिलेंगे तो क्या होगा ? तब उसके द्वारा अपना पति कहा गया - "हे प्रिय ! मध्यरात्रि में तुम्हारा इस प्रकार घर में आगमन अच्छा नहीं है, मार्ग में कभी भी कोई मिलेगा तो क्या होगा ?" उसने कहा - "तुम मेरे बल को नहीं जानती हो, इसलिए (ही) तुम बोलती हो। मेरे सामने सैंकड़ों मनुष्य भी आयेंगे, वे क्या करेंगे ? मेरे सामने वे कुछ भी करने के लिए समर्थ नहीं हैं। तुम्हारे द्वारा भय नहीं किया जाना चाहिए।" इस प्रकार सुनकर उसके द्वारा विचारा गया - मेरा पति घर में शूर है, (मैं) समय पर उसकी परीक्षा करूँगी।

एक बार वह अपने घर के समीप रहनेवाली क्षत्रियाणी के घर में जाकर कहती है - "हे प्रिय सखी ! तुम तुम्हारे पति के सभी वस्त्र-आभूषण मेरे लिए दे दो, मेरा कोई प्रयोजन है।" उस क्षत्रियाणी के द्वारा अपने प्रिय की तलवारसहित सिर ढकनेवाला तथा कटिपट्ट आदि योद्धा की वेशभूषा (आदि) सब ही दे दी गई। वह (उन्हें) लेकर घर में गई।

जब रात्रि में एक प्रहर बीता तब वह उस सभी योद्धावेश को पहिनकर तलवार को लेकर संचाररहित राजमार्ग पर निकल गई। पति की दुकान से नजदीक पेड़ के पीछे अपने को छिपाकर खड़ी रही। कुछ समय में वह सुनार दुकान को बंदकरके, पेटी को हाथ से लेकर भय से घबराया हुआ इधर-उधर देखता हुआ, शीघ्र जाता हुआ जब उस पेड़ के समीप आया तब पुरुष का वेश धारण करनेवाली वह अचानक निकलकर मौन से उसका तिरस्कार करती है (और संकेत से कहती है) - हुं-हुं, सब छोड़ो अन्यथा मार दूँगा। वह अचानक रोक लिया गया, भय से थरथर काँपता हुआ - 'मुझको मत मारो, मुझको मत मारो,' इस प्रकार कहकर पेटी देदी। तब उसने सभी पहिने हुए वस्त्रों को लेने के लिए तलवार की नोक उसकी छाती पर रखकर पहने हुए वस्त्र भी उतरवा लिये। तब वह कटिपट्टमात्र ही पहने हुए रहा। तब उस कटिपट्ट को भी मरणभय को दिखाकर उतरवा लिया। वह अब बच्चे के समान नग्न हुआ। वह सब लेकर घर गई, घर के द्वार को ढककर (बन्दकर) अन्दर बैठ गई।

सो सुवण्णयारु भएण कंपमाणु एतहे-तेत्तहे अवलोएंतु मग्गि आवणवीहीहिं गच्छंतु जइयहुं सागवावारी हट्टसमीव आगउ तइयहुं केण जणेण पक्कचिब्भडु बाहिर पक्खित्तु, तं तु तासु सुवण्णयारस्सु पिट्टुभागे लग्गिउ। तेण णाउ केणावि हउं पहरिउ। पिट्टुदेसि हत्थे फासेइ, तेत्थु चिब्भडस्सु रसु बीआइं च फासेवि विआरिउ-अहो ! हउं गाढयरु पहरिउ म्हि। तेण घाएण समउ सोणिउ पि निग्गउ, तासु मज्जे कीडगा वि समुप्पन्ना। एम अच्चंतभयाउलो तुरन्ते गच्छंतु घरदारे समागउ।

पिहिउ घरदारु पासि वि नियभज्जा आहवणहो उच्चसरं कहेइ - "हे मयणस्सु माया ! दारु उग्घाडे, दारु उग्घाडे।" सा अब्भंतरि थिया सुणंती वि असुणंती व किंचि कालु थिआ। अइ अक्कोसणे सा आगच्छि वि दारु उग्घाडिउ एम पुच्छइ - "किं अइ अक्कोससि ?" सो भयभंतु गिहि पविसिउ भज्जा कहेइ - "दारु तुरन्ते पिहाहि तालगु पि देसु।" ताए सव्वु करि वि पुट्टु - "किं एव नग्गु जाउ ?" तेण वुत्तु - "अब्भंतरि अववरइ चलि, पच्छा मइं पुच्छ।" गिहसु अंते अववरइ गमेवि निच्चिंतु जाउ। ताए पुणु वि पुट्टु - "किं एम नग्गु आगउ ?" तेण कहिउ - "चोरहिं लुंठिउ, सव्वु अवहरेवि नग्गु कउ।" सा कहेइ - "पुव्वि मइं कहिउ - "हे सामि ! पइं एव मज्जरत्तिहिं मंजूसा गहेवि ण आगच्छेव्वउं, तइं ण मणिणउ तेण एम जाउ।" सो कहेइ - "हउं महाबलिदु वि किं करउं ? जइ पंच-छ वा चोरा आगया होज्जा तावेहिं ता सव्वा हउं जाएवं समत्थु, एइ उ सउ थेणा आगया, तेण हउं तहिं सहुं जुज्जमाणु पराजिउ, सव्वु लुंठेवि नग्गु किउ, पिट्टुदेसु य असिएं हउं पहरिउ। पासे पिट्टुदेसु, घाएण समउ कीडगावि उप्पन्ना।"

ताए तासु पिट्टुदेसु पासि णाउ-चिब्भडस्सु रसु बियाइं च इमाइं संति। भत्तारहो वि कहिउ-"सामि ! भयभंतेण पइं एम जाणिउ - 'केण वि हउं पहरिउ एम तावेहिं सोणिउ निग्गउ, तेत्थु य कीडगा वि समुप्पन्ना' तं णउ सच्च। तहुं चिब्भडेण पहरिउ सि, तासु रसु बीयाइं च पिट्टुदेसि लग्गाइं ति।" तओ ( तो ) तहो देहपक्खालणस्सु सा जल गहेप्पिणु आगया, नियपइ देहसुद्धि करेवि परिहाणवत्थ अप्पणि ताइं चेव वत्थाइं अप्पेइ। सो ताइं वत्थाइं पासि धिदुतणेण कहेइ - हुं, हुं, मइं तावेहिं च्चिय तुहुं णाया, मइं चिंतिउ - महु भज्जा किं करेइ ? तेण हउं भयभंतो इव तेत्थु थिउ, सव्वाहरणु उवेक्खिउ अण्णहा महु अग्गए इत्थी का सत्ती ? सा कहेइ - " हे भत्तार ! तउ बलु मइं तामहिं चेव णाउ, तुहुं गेहि सूरु अत्थि, तेण अज्जयणाहु तइं मज्जरत्तिहिं मंजूसा गहि कयावि णउ आगच्छेव्वउं" ति भज्जा-वयणु सो अंगीकरेइ।

वह सुनार भय से काँपता हुआ, मार्ग में इधर-उधर देखता हुआ बाजार मार्ग में जाता हुआ जब साग के व्यापारी की दुकान के समीप आ गया (पहुँचा) तब किसी मनुष्य के द्वारा पकी हुई ककड़ी (खीरा) बाहर फेंकी गई और वह उस सुनार की पीठ पर लगी। उसके द्वारा समझा गया (कि) किसी के द्वारा मैं प्रहार किया गया हूँ। (उसने) पीठ पर हाथ से छुआ, वहाँ (उसके द्वारा) खीरे के रस और बीज को छूकर विचार किया गया - अहो, मैं प्रगाढ़रूप से प्रहार किया गया हूँ, इसलिए घाव के साथ खून भी निकला है, उसमें कीड़े भी उत्पन्न हुए हैं। इस प्रकार भय से अत्यन्त व्याकुल (वह) शीघ्र चलता हुआ घर-द्वार पर पहुँचा।

बन्दहुए घरद्वार को देखकर अपनी पत्नी को बुलाने के लिए उच्च स्वर से कहा - "हे मदन की माता! द्वार खोलो, द्वार खोलो!" वह अन्दर बैठी रही। सुनती हुई भी न सुनती हुई (सी) कुछ काल ठहरी। बहुत गुस्सा करने पर उसने आकर और दरवाजे को खोलकर इस प्रकार पूछा - "बहुत क्यों चिल्लाते हो?" भय से ग्रस्त वह घर में घुसकर पत्नी से कहता है - "द्वार शीघ्र बन्द करो, ताला भी लगाओ।" सब करके उसके द्वारा पूछा गया - "इस प्रकार नग्न क्यों हुए?" उसके द्वारा कहा गया - "अन्दर कोठरी में चलो, पीछे मुझको पूछो।" घर की अन्तिम कोठरी में जाकर निश्चिन्त हुआ। "उसके द्वारा फिर पूछा गया - "इस प्रकार नग्न क्यों आये?" उसके द्वारा कहा गया - "चोरों द्वारा लूटा गया हूँ, सब छीनकर नग्न किया गया हूँ।"

उसने कहा - "मेरे द्वारा पहले (भी) कहा गया है (कि) हे स्वामी! तुम्हारे द्वारा मध्यरात्रि में पेटी को लेकर नहीं आया जाना चाहिए, तुम्हारे द्वारा (यह) नहीं माना गया, इसलिए इस प्रकार हुआ है।" उसने कहा - "मैं महाबलवान (हूँ, तो भी) क्या करूँ? यदि पाँच या छः चोर आये होते तो उन सबको मैं जीतने के लिए समर्थ होता किन्तु ये सैकड़ों चोर आये इसलिए मैं उनके साथ लड़ते हुए हरा दिया गया, सब लूटकर नग्न किया गया और पीठ में तलवार से प्रहार किया गया। पीठ को देखो, घावसहित कीड़े भी उत्पन्न हुए (हो गए)।"

उसके द्वारा उसकी पीठ को देखकर जान लिया गया - ये खीरे के बीज और रस हैं। पति के लिए ही कहा गया - "हे स्वामी! भय से ग्रस्त होने के कारण तुम्हारे द्वारा इस प्रकार जाना गया है - 'किसी के द्वारा मैं प्रहार किया गया (और) इस प्रकार उससे खून निकला तथा वहाँ कीड़े भी उत्पन्न हुए', वह सत्य नहीं है। तुम खीरे के द्वारा प्रहार किये गये हो, उसका रस और बीज पीठ में लगे हैं।" तब उसके देह-प्रक्षालन के लिए वह जल लेकर आई। अपने पति की देह की सफाई करके, पहनने के लिए उपहार में (उसने) वे ही वस्त्र दिये। वह उन वस्त्रों को देखकर ढीठता से कहता है - "हूँ-हूँ मेरे द्वारा उस समय ही तुम जान ली गई थीं। मेरे द्वारा विचार गया - मेरी पत्नी क्या करती है? इसलिए भय से ग्रस्त की तरह वहाँ रहा और सब अपहरण की उपेक्षा की गई। अन्यथा मेरे सामने स्त्री की क्या शक्ति है? उसने कहा - "हे स्वामी! तुम्हारा बल मेरे द्वारा उसी समय ही जान लिया गया (था), तुम गृह-शू हो। अतः आज से तुम्हारे द्वारा मध्यरात्रि में पेटी को लेकर कभी भी न आया जाना चाहिए।" इस प्रकार पत्नी के वचन को उसने अंगीकार किया।





